लखमा की आँखें

प्रकाशक—
राजकिशोर अग्रवाल,
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण
जून १९५७
मूल्य ३)

मुद्रक—विनोदकुमार अग्रवाल, भारतीय प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरखां, आगरा।

गीत का चुंबक



मैं कबसे कहना चाह रहा हूँ किंतु कह नहीं पाया, न जाने क्यों ऐसा लगता है कि जो कुछ मैं अपने शब्दों में बाँध देना चाहता हूँ, वह वास्तव में भावनाओं की बात है। होसकता है कुछ लोग यही अनुभव करें कि मनुष्य को जीवन में कुछ न कुछ सहारा अवश्य चाहिये और उसी की खोज में मैंने अपने लिये एक बहाना बना लिया है, क्योंकि वैसे देखा जाये तो दुनियादारी के शब्दों में मेरे कोई गिरस्ती नहीं है। यों ही मैं घूमता फिरता हूँ। आप कहेंगे कि ऐसा क्यों है? मैं वैसे जाति का ब्राह्मण हूँ। नवद्वीप में मैंने शिक्षा प्राप्त की और फिर वहाँ से मैं काशी गया जहाँ शालाओं में लड़के संस्कृत रटा करते हैं और वहाँ के तोते भी उनकी बोली सीख जाते हैं। काशी के पथों पर मैंने न जाने कितनी बार महात्माओं के दर्शन किये, परन्तु वहाँ कुछ भी नहीं हुआ। हुआ भी तो लौटती बार जब एक बौद्ध परिवार से मुलाकात हुई। वह परिवार उत्कलवासी था और घर लौट रहा था। हम सब साथ ही चले। उस परिवार के लोग सहजयानी थे, किंतु मुसलमानों के आतंक के कारण बौद्ध सदा ही अपने को छिपाते हैं। मुसलमान कहते हैं कि ब्राह्मण भी अच्छा, बुतपरस्त है तो क्या हुआ, कम से कम अल्लाह को तो मानता है, लेकिन यह बौद्ध तो कमबख्त ऐसे काफ़िर हैं

कि खुदा को ही नहीं मानते।

यों ही हम लोगों ने थक कर एक जंगल के किनारे पड़ाव डाला। मेरा उड़िया सहजयानी मित्र तो वैठ गया। वह एक मोटा ग्रादमी था ग्रौर ग्रवहट्ट वोलना भी जानता था। वह वड़ा पढ़ा लिखा ग्रादमी था। मैं उसके समीप ही लेट गया। थक सो गया था। उसकी पत्नी ग्रौर युवती पुत्री ने भोजन का प्रवन्ध प्रारंभ किया। गाड़ीवान ग्रव वैलों को खोलने लगे। वे ग्रपनी पछाँही वोली वोलते हुए न जाने क्या कहते थे कि उनकी वोली मैं तो समझ लेता किंतु उड़िया वंधु नहीं समझ पाते थे। वैसे मैंने हिंगलाज ⚘ से ग्राने वाले नाथ जोगियों से सुन रखा था कि पश्चिम से पूर्व में कामरूप तक वोलियों में थोड़ा थोड़ा ही ग्रन्तर था।

सांझ ग्रव गहरी होने लगी थी। किराये पर लाई गई ये गाड़ियाँ हांकने वाले ग्रव ग्रपनी रोटी पकाने लग गये थे।

कैसा वियावान जँगल था। ग्रभी हम लोगों को वैठे देर नहीं हुई थी कि पूर्व की ग्रोर कुछ कोलाहल सुनाई देने लगा। घने वृक्षों की छायाएँ ग्रव उतरते ग्रन्धकार में लुप्त होगई थीं। ऐसा लगता था जैसे सारी हरीतिमा एक विशाल ‘श्याम सघन छाया वनकर हवा पर सरसराती हुई हिल रही थी। गाड़ीवानों के पत्थरों के टुकड़ों को वीनकर वनाये चूल्हों में ग्रग्नि की लपटें प्रदीप्तवर्ण सी काँप रही थीं ग्रौर उनके हल्के प्रकाश में उन काले ग्रौर साँवले शरीर के सुदृढ़ गाड़ीवानों के चेहरों पर उभर ग्राई ग्राशंका दिखाई देने लगी थी।

⚘ वलूचिस्तान के समीप

उड़िया यात्री ने अपने भारी स्वर को धीमा बनाने की चेष्टा की, जिससे वह स्वर भर्रा सा गया। उसने कहा : उधर यह शोर हो रहा है न ?

मैंने कुछ नहीं कहा।

यात्री ने अपनी पत्नी की ओर देखा जो अब सहमी हुई सी निकट आगई थी। उसके पीछे ही उसकी युवती पुत्री थी, जिसके मुख पर आतंक सा आ गया था। वह निस्तब्ध थी। सामने की जलती आग उसके चेहरे पर अपनी झाँई मार रही थी और मैंने देखा कि उसके स्थिर और बुझे हुए चेहरे में भी जीवन की चिन्गियों की तरह उसकी दोनों आँखें अनागत से टक्कर लेने की स्पर्धा भर कर चमक रही थीं।

'न हो तो',मैंने फुसफुसाकर कहा:'कहीं अगर डाकू ही हों, तो मैं और आप सामान के साथ यहीं रह जायें और इन दोनों स्त्रियों को आप कुछ मूल्यवान वस्तुओं के साथ एक अपना नौकर करके जंगल में किसी भाग में चले जाने को कहें। डाकू निकल जायेंगे तब हम लोग इन्हें ढूंढ़ लेंगे और चल पड़ेंगे।'

उड़िया यात्री ने गंभीरता से सुना। उसके कानों में हीरे थे और हाथों में सोने के कड़े।

उसकी स्त्री ने कहा: 'नहीं,' उसकी आवाज़ बहुत ही धीमी थी। उसने फुसफुसाते हुए कहा: 'हम नहीं जायेंगी' साथ में रह कर ही मरजाना अच्छा होगा। मेरे पास कटार है। इसीसे लड़की को मार कर मर जाऊँगी। जानते नहीं?' यह गाड़ीवान डाकुओं से मिले होते हैं। इधर हम छिपने जायें

तो जैसे इन गाड़ीवानों को पता भी नहीं चलेगा ?'

'जोहो,' यात्री ने उठकर अपनी तलवार उठाकर कहा: 'देखा जायेगा।'

उसे उठता देखकर गाड़ीवानों का बूढ़ा सरदार पास आगया और उसने कहा: स्वामी ! डाकू आये लगते हैं।

'पर डाकू वहाँ क्यों शोर करते हैं ?' यात्री ने पूछा।

'इसीलिये कि वहाँ कोई यात्री दीखते हैं।'

इस समय कोलाहल कुछ कम हो गया था।

मैं विचित्र विचारों में खो गया।

क्या सचमुच आज ही जीवन का अन्त होजायेगा ?

मैं सुदूर वंगवासी। मैंने वेदों का १२ वर्ष अध्ययन किया, कौन नहीं जानता कि मैं कितना पण्डित हूँ। आज यात्रा की सहायता प्राप्त करते हुए अचानक इस सहजयानी से आमिला हूँ। वैसे यह सहजयानी अब हैं ही कहाँ ? थोड़े बहुत उड़ीसा में ही होंगे ! बाकी हमारे वंग में तो अब बाउल ही बाउल दिखाई देते हैं। वयोवृद्ध कमलेश्वर कहता था कि जब वह बालक था तब तुर्कों ने बौद्धों और सहजयानियों का घोर वध किया था। तुर्कों ने जब इनके विहारों में अपार संपत्ति देखी थी तब जी भरकर लूटा था। उस समय तक ब्राह्मण विद्वेषी बौद्धों ने तुर्कों और मुसलमानों को निमंत्रण देदेकर वंग में बुलाया था, किन्तु बाद में जब उल्टी मार लगी तो सब भूल गये। अधिकांश तो धड़ाधड़ मुसलमान ही बन गये। अनीश्वर-वादी इन मुण्डियों को म्लेच्छ होने में ही क्या विलंब हुआ।

मैं अभी इन्हीं विचारों में खोया रह जाता, किंतु तभी मैं

चौंक पड़ा। कोलाहल, मैंने अब अनुभव किया, शांत हो चुका था। यात्री ने कहा: सुनो देवता ! आओ कुछ भोजन करें।

सदैव ही मै यात्रा में खानपान को कुछ सीमा तक ढीला कर देता रहा हूँ और सदैव ही मैंने इसका अनन्तर प्रायश्चित कर लिया है। मैंने भी सोचा कि आई गई हुई, अब भोजन कर लेना ही उचित है। अभी हम लोग खाने बैठे ही थे कि मुझे फिर एक रुदन ध्वनि सुनाई दी। मैं अपने को रोक नहीं सका तुरन्त उठा और आवाज़ की तरफ चल दिया।

अंधेरे में मुझे अधिक दूर नहीं जाना पड़ा। कुछ लोग मिले, जो एक लाश को लिये हुए थे। यह मैंने पेड़ों की आड़ में उगते चन्द्रमा की पत्तों में से छन छन कर आती हल्की चाँदनी में देखा।

'कौन हो तुम लोग ?' मैंने कठोर स्वर से पूछा।

मेरा प्रश्न हवा में जैसे गूँज गया। स्वयं मुझे भी अपने स्वर की कठोरता का आभास हुआ। परन्तु यह केवल साहस की भावना के अत्याधिक उत्तेजित हो जाने के कारण ही हुआ था।

उन लोगों में से कोई नहीं बोला। स्पष्ट ही वे शूद्र थे, यह मुझसे छिपा नहीं रहा। अब मुझे यह भी याद आया कि अचानक ही भोजन छोड़कर उठ आया था। मेरे उड़िया साथी और बाकी लोगों ने मेरे इस कार्य को देखकर क्या विस्मय नहीं किया होगा ? यात्रा भी कैसी विपदा है, किन्तु भाग्य का चक्र है कि मनुष्य को करनी ही पड़ती है। जगह जगह कितने डाकू उत्पन्न हो गये हैं ! मैंने केवल पढ़ा था कि इसी

भारत की पुण्य भूमि में ऐसे ऐसे चक्रवर्ती राजा हुये थे जिनके राज्य में गाय और सिंह एक ही तपोवन में विचरण किया करते थे। तव ब्राह्मणों का तेज ही ऐसा था कि उनकी हुँकारों से ही सव कुछ भस्म होजाया करता था। कलि के आजाने से क्या से क्या होगया। कैसी अधोगति होगई। तरह तरह के नास्तिक धर्म फैल गये और अनाचार का वोलबाला हो गया। अव तो शूद्र जगह-जगह सिर उठाने लगे। क्या होगया यह? और आगे क्या होने वाला है। पाप की भी कोई सीमा होती है। यवनों के आक्रमण से तो पवित्र अवतारों की भूमि में केवल विनाश ही विनाश छागया है। इनके वर्वर अतिचारों की याद से ही रोम रोम जलने लगता है। तभी मैंने देखा वे कुछ फुसफुसा रहे थे।

सामने वे वारह व्यक्ति थे, एक लाश थी और मैं अकेला था।

मैंने फिर कहा: कौन लोग हो?

'हम...हम कोरी हैं...'

"शाक्त?" मैंने धीरे से कहा। "तुमने ही इसे मारा है? कौन है ये?" मैंने अपना स्वर उठाकर पूछा।

वे कुछ नहीं वोले।

मैंने फिर कहा: 'तो तुम इसे यहाँ चुपचाप खोदकर गाड़ देने आये हो। लुटेरे हो? डाकू।'

पता नहीं शायद मेरे स्वर में घृणा की तिक्तता उभर आई थी कि एक वूढ़ा आगे आया। उस समय मेरे मुख पर चाँदनी पड़ रही थी। उसने अपने पुराने स्वर में कहा: 'हम

डाकू हैं ? और हमारे पास एक भी हथियार नहीं ? हमने हत्या की है और हम सब घायल हैं ? तुम कौन हो ?'

विक्षोभ जैसे पुंजीभूत हो चुका था और अब धीरे से पिघलना शुरू हुआ था।

मैने पूछा : 'तो फिर यह क्या है ?'

'जाने दो यात्री !' बूढ़े ने कहा—'जाने दो। तुम सुनकर भी क्या करोगे ? यह कोई आज की कथा नहीं। और फिर तुम भी तो ब्राह्मण देवता ही जान पड़ते हो। पूछ कर भी क्या समझोगे ?' वह ऐसे रुक गया जैसे न जाने क्या क्या कह देना चाहता था, किन्तु फिर भी कह नहीं रहा था, जैसे वह मन्त्रों से अवरुद्ध होगया सा कोई साँप था।

मैंने अनुभव किया कि मेरा मन कहीं गीला गीला सा होगया था। मैंने कहा : सुनो ! भयानक रात है। चारों ओर हवा सनसना रही है। न हो तो, इधर आओ। हमारा यात्रियों का दल पड़ा है। उधर ही चलो।

मेरी बात सुनकर वे आपस में एक दूसरे की ओर देखने लगे। तब एक फूट फूट कर रोने लगा। उसको रोता देख सब विमूढ़ से होगये।

मैंने कहा : क्या बात है ?

बूढ़े ने कहा : 'इसका भाई है ये। जब इसका बाप मरा था तब उसने इस बालक को इसी की गोद में छोड़कर कहा था : कपालि ! इसे अपना पुत्र ही जानना। तब से उसने डोम्बि को अपना ही पुत्र समझ कर पाला। आज डोम्बि भरी जवानी में मारा गया। अब इसे इस निर्जन वन में कैसे

छोड़ जायें हम ! इसे अगर वन पशुओं ने खा लिया तो !'

सचमुच मनुष्य के व्यर्थ के भय की बलिहारी ! मरे से भ उसे इतनी ममता होती है। अरे वह तो मिट्टी होगया। उसे कोई भी खाले अब । उसका क्या है ? किन्तु यह मैं क्या सोच गया हूँ ? यह तो अनर्थ है ! मरने के बाद उसकी गति ही जब तक उचित नहीं होगी तब तक वह कर्मों का फलाफल भोगेगा कैसे ? वह तो प्रेत बनकर घूमता फिरेगा ?

उस समय मुझे कुछ चक्कर सा आगया किंतु कपालि का रुदन बड़ा करुण था। ऐसा लगता था जैसे डोम्बि का प्रेत भूखा प्यासा वन में हहरता हुआ भटक रहा था और बार बार आकर अपने पार्थिव शरीर पर मंडरा जाता था।

'इसे जलाना होगा।' मैंने बहुत ही संयत स्वर से कहा।

'कैसे ?' कपालि ने कहा। और वह फिर रो पड़ा।

मैं नहीं समझा ।

मैंने कहा: इतने बड़े वन में क्या लकड़ी नहीं मिलेगी ?

मेरी बात सुनकर उस बूढ़े ने कहा: लेकिन···फिर उजाला होगा और वे देख लेंगे...वे देख लेंगे और फिर···और फिर ...हम सबको ही मरना होगा···तब···तब···हमें कौन जलायेगा ...तब तो हमारी लाशों को सियार और गिद्ध ही खायेंगे······

उस बीभत्स स्वीकृत को सुन कर मेरे रोंगटे खड़े होगये। जब मौत सिर पर मंडरा रही हो, तब मनुष्य कितना यथार्थ-वादी हो जाता है, उससे कुछ भी छिपा नही रहता। उस समय अपने स्वार्थ की अतिसीमा में बंधा हुआ मनुष्य भी अपने को भी उतनी ही दूरी से देखता है, जितनी से वह

किसी पराये को देखता है। मौत असल में परख ही नहीं करती, सिखाती भी है। मैं कहता हूँ कि अगर दुनिया में मौत न हो तो इस आदमी के घमंड का कोई अन्त ही नहीं मिले।

'कौन मारेगा तुम्हें ?' मैंने पूछा।

'वेही...वेही...' कपालि नहीं कह सका। फिर रोने लगा। यही आदमो अभी अपने हाथों से पाले हुये लड़के—अपने भाई के किसी के हाथों से निर्दयतापूर्वक मारे जाने पर रो रहा था। उसका रुदन तो विवशता थी क्योंकि उसकी हत्या का बदला न लेकर वह भाग आया था, परन्तु साथ में उसकी मिट्टी भी उठा लाया था। और अब वह उसे किनारे लगाना चाहता था, क्योंकि उसके संस्कार और विश्वास उसे ऐसा करने को विवश कर रहे थे। तथापि अब उसे अपनी मौत का डर और भी बढ़ गया था। अब वह भाई की मौत से भी अधिक अपनी मौत के डर से रोरहा था। कहते हैं मरों को जीवितों से प्यार नहीं होता। लेकिन जीवन का कोई एक क्षण ऐसा भी आता है जब जीवित और मृत के बीच रेखा खींचना कठिन हो जाता है। ऐसे ही समय में मनुष्य अपने विवेक से भी परिचालित होता है, और अपने ममत्व से भी। किन अंतरालों में जाकर यह भावनाएँ समवेत होकर अंतरात्मा की निगूढ़ कुज्झटिका में विलीन हो जाती हैं, यह कोई नहीं बता सकता। अनन्त विस्फार सी इस व्यापक सत्ता को सदैव मैंने परमशिव का आनन्द माना है, और वेद के निर्घोष में ही मेरे अस्तित्व का संघर्ष अपनी सार्थकता—मानता

आया है, किन्तु यहाँ मुझे लगने लगता है कि कहीं कोई ऐसी एक रेखा शेष है जो हमारे पथ को हठात् ही काट जाया करती है और संभवतः हम अपने ही अन्धविश्वासों के आसरे होकर अपने ही आदर्शों के भोंकते कुत्तों से वचने के लिये छिपते फिरते हैं।

मैंने कहा: कौन हैं वे लोग ?

वृद्ध ने कहा: प्रभु......

आतंक फिर लरजने लगा।

मैंने आश्वासन देते हुए कहा: भोलानाथ सवका दुख दूर करते हैं। वताते क्यों नहीं।

तव उसने वताया ।

वे कोरी हैं और नहीं जानते कि वे देवी के उपासक क्यों हैं ! संभवतः इसीलिए हैं जैसे भारत में कोई भी जाति सनातन से अपने अपने देवताओं की उपासना करती चली आ रही है। उनके पूर्वजों ने देवी के सामने रतजगा करके गीत गाये थे, वे भी गाते हैं। आज भी गा रहे थे; किन्तु उनसे ब्राह्मण क्रुद्ध हैं, क्योंकि वे उनको वेद-विद्वेषी मानते हैं, क्योंकि वे शाक्तों को गाँव में रहने की आज्ञा नहीं देना चाहते। यह संघर्ष तीन पीढ़ियों से चला आरहा है। पता नहीं, वे कोरियों को शूद्र क्यों कहते हैं। कोरी कोई बुरा काम नहीं करते; वे कपड़ा कातते वुनते हैं। फिर भी उनका छुआ पानी गन्दा हो जाता है। कोई नहीं जानता कि यह झगड़ा कव समाप्त होगा। आज वे पानी भरने के लिए अपने कुँए पर गये। चमारों के पास कुँआ नहीं है, क्योंकि उन्हें अधिकार नहीं, वे

उसी हौज़ में से पानी ले जाते है जिसमें से वैलों को पानी पिलाया जाता है, लेकिन कोरियों ने अपना कुँआ बना लिया है, और उसके बनाते समय छह कोरी जान से मारे गए थे। कपालि का पिता उसी में मारा गया था। आज उसी कुंए में किसी ठाकुर ने विष डाल दिया था, क्योंकि वह उन्हें गांव से भगाना चाहता था। सारे सवर्ण एक ओर थे । गाँव की सीमा पर बसे तेली को पता चल गया था । वह नाथों का चेला मुसलमान जोगी है। उसको मार डाला उन्होंने और अब वे हमें भी निकाल रहे हैं । उसी झगड़े में डोम्बि मारा गया है। इस नगले की औरतें इधर उधर भाग गई । कुछ सहजयानी आये हैं बंग से, वे जाने क्या प्रचार करते फिर रहे हैं !

मैंने सुना। फिर कहा : आह रे धर्म ! सच ही कलियुग में तेरा चौथा चरण भी नष्ट ही हो जायेगा। क्यों तुम लोग मर्यादा का उल्लंघन करते हो । ईश्वर ने तुम्हें कर्मानुसार जब किसी जाति विशेष में जन्म दिया है, तब ईर्ष्या के कारण क्यों विद्रोह करते हो । स्वधर्म का पालन क्यों नहीं करते ? किसलिए सारे नियमों को तोड़ कर अनाचार और अनैतिक उच्छृखलता फैलाना चाहते हो।

फिर मैंने कहा: दिल्ली के सुल्ताल तो यहाँ से एक बार स्वयं निकल चुके हैं न ?

'हां प्रभु !' वृद्ध ने कहा : 'किन्तु हमारा कोई अपराध नहीं है। हम तो गरीव लोग है । ब्राह्मणों से हमारा विरोध नहीं। हम तो अपने प्रजापालक ठाकुरों की ही शरण

सदा से अपना आश्रयस्थल समझते आ रहे हैं । हमारे राजपूतों ने सुल्तान के कर वसूलने वालों को मार डाला था। जब खबर पहुँची तो सुल्तान ने फौज भेजी । हमारे कुछ कोरी जो बौद्ध थे वे सुल्तान की फौज में पहुँच गए और ठाकुरों के नाम बता आए । ठाकुर पकड़े गए । फिर भी सुल्ताल के लोगों ने हम गरीबों को खूब चूसा । वे चले गए तो बचे हुए ठाकुरों ने हमसे बदला लिया ।

मै निस्तब्ध खड़ा रहा ।

इसी समय मेरे कंधे पर किसी ने हाथ रखा ।

मुड़कर देखता हूँ । मेरा सहजयानी साथी ।

उसने कहा : क्या कर रहे हो भाई ? खाना भी छोड़ आए । मैं कहूँ क्या हुआ ? ये लोग कौन हैं ?

मैंने सारी बात बताई ।

सुनते ही वह तो घबरा गया ।

उसने कहा : हाय मै तो मारा गया । अब यह लोग यदि जान जायेंगे तो हमें क्या छोड़ देंगे ? इनसे तो तुर्क ही हमें बचा सकते हैं ।

वह भाग चला ।

में तो देखता ही रह गया ।

में जब सजग हुआ तो मुझे अपनी पड़ी । अब मैं क्या करूंगा । हठात् मुझे एक भय लगने लगा । यह लोग जो मेरे सामने हैं, में इनका ही क्या विश्वास करूँ, यदि आवेश में आकर इन्हीं ने मेरी हत्या करदी तो मैं अपनी रक्षा कैसे कर सकूंगा ।

सच कहता हूँ प्रत्येक वस्तु के अंत को शाश्वत मानने वाला मैं भी थर्रा गया। आज वहुत दिन बाद सोचता हूँ कि यह तो 'अहं' है, संभवतः यह वस्तु के किसी भी रूप की इकाई की भावना है। जिस प्रकार यह अपनी रक्षा करने की चेष्टा करती है, संभवतः उसी सिद्धान्त पर यायावर ब्रह्माण्ड भी अपने को बचाता है, क्योंकि मैं ब्रह्माण्ड का एक अंश हूँ, उससे अलग करके नहीं देखा जा सकता। काठ जो इतनी कठिनाई से कटता है, वह भी वस्तु का स्वरक्षा के लिए संघर्ष हैं और पत्थर जो बहुत ही कड़ा बन जाता है, वह उसका अपना प्रयत्न है।

अभी मैं यह सब निर्णय भी नहीं कर पाया था कि वन में जलती मशालें चलती हुई दिखाई देने लगीं। उनको देखकर मुझे लगा कि वहाँ ब्रह्मराक्षसों का कोई निवास था, तभी वे उल्काएँ जगमगा रहीं थीं। यह भी संभव हो कि वे कापालिक हों जो नरबलि ढूँढने निकले हों। मैं तो हतचेत-सा देखता रह गया। केवल इतनी ही सतर्कता मुझमें शेष थी कि वे कोरी क्या कर रहे हैं, यह देखता रहूँ।

'अरे बापरे !' एक ने कहा। वे हमें वन में ढूँढने आरहे हैं।'

बस सुनने की देर थी कि बारहों आदमी लाश को वहीं छोड़ कर, जिसको जिधर सूझा, उधर ही भाग निकले। मैं अकेला रह गया, क्योंकि मेरा साथी एक शव ही था, जिसे लहू ने भिगो दिया था, किंतु वह न मेरी तरह हिलता डुलता था, न साँस ही लेता था। उसके लिये तो सब कुछ हो चुका

था। उसे कोई भय नहीं था। वह मिट्टी हो चुका था। आज सोचता हूँ कि क्या मिट्टी नहीं डरती ? इसका उत्तर मैं क्या दूँगा जो मिट्टी होकर भी अपने मिट्टीपन के ऊपर हावी बनने का दावा किया करता हूँ। किन्तु उस समय मुझे डर लगने लगा।

अब मशालों की ज्योति निकट आने लगी थी और साथ ही घोड़ों की टापें भी सुनाई देने लगी थीं। कौन होंगे !

डाकू !

केवल एक और बार शब्द मेरे कानों में बजा 'डाकू !'

उसके उपरान्त मुझे उस ओर से घोर कोलाहल सुनाई दिया, जिधर मेरे उड़ीसा के साथी का डेरा था। फिर बर्बर अट्टहास गूंजा, फिर चीत्कार और फिर कोलाहल, मार मार···

मैं न जाने क्यों स्तंभित सा वहीं खड़ा रहा। अंगचेष्टाएँ कहीं चली गईं थीं।

जब वह कोलाहल हाहाकार में बदल रहा था, एक बहुत ही तीखी आवाज़ सुनाई दी···बचाओ···बचाओ...

बिजली सी कौंध गई मेरे सामने। यह तो मेरे उड़िया सहयात्री की युवती पुत्री का स्वर था। न जाने कैसे मैं उधर ही भाग चला जिधर से स्वर आया था.....

अंधेरा यहाँ बहुत घना था।

घूम फिर कर भी मुझे कुछ नहीं मिला।

उस समय मैं विक्षुब्ध सा हो उठा था।

मैं फिर वृक्षों की ओट में मशालों के उजाले की ओर

चलने लगा। वहाँ आकर देखा कि घोड़ों पर तुर्क थे और चारों ओर विनाश और शवों का अखण्ड ताण्डव था।

एक व्यक्ति ने तुर्की में कुछ कहा।

मैं नहीं समझा।

तभी तीन तुर्क जो लंबे चौड़े थे, एक तुर्क का शव उठा लाये।

तुर्क ने फिर पूछा।

एक ने पीछे मुड़ कर कुछ कहा।

तीन तुर्क फिर बढ़े। उन्होंने उसी युवती पुत्री को पकड़ रखा था। एक ने उसके हाथ से रक्त से भीगी हुई कटार छीन कर सर्दार को दिखाई और मृत व्यक्ति की ओर इशारा किया। मैं समझ गया अवश्य इसी वीर स्त्री ने इसकी हत्या की है। सर्दार ने फिर कुछ कहा।

तब दो आगे बढ़े। स्त्री के वस्त्र कुछ फट गये थे। अनेकों शवों में वही जीवित खड़ी थी और मैं पेड़ों की आड़ में अँधेरे में छिपा हुआ सब देख रहा था। तुर्कों की तलवारें रक्त से भींगी हुई मशालों के प्रकाश में चमक रही थीं। वे सिर पर लोहे के शिरस्त्राण पहने हुए थे। उनकी चाल में अकड़ थी। वे बड़े गर्वीले थे। स्त्री के बाल बिखर गये थे और आंखों में एक बड़ा अजीब सा जंगली आनन्द था। उसकी पुतलियां उसके सफेद कोयों के बीचों-बीच दिखाई दे रही थीं।

मैंने देखा एक तुर्क ने आगे बढ़ कर स्त्री के वक्ष का वस्त्र फाड़ डाला और एक भयानक चीत्कार गूंज उठा। उसने स्त्री के दोनों स्तन काट दिये। रक्त के पनाले वह निकले।

स्त्री मूर्छित होकर गिर पड़ी। एक वर्बर अट्टहास प्रतिध्वनित हुआ।

सर्दार मुड़ा।

उसने फिर कुछ कहा।

तब तीन चार तुर्क लूट का सामान ला ला कर उसके सामने धरने लगे। बैल, गाड़ी और और......

मैं देखता रहा।

कुछ देर बाद वे सब चले गये। उनके घोड़ों की टापों की आवाज़ को जब अंधेरे की जीभ ने निगलकर आकाश और पृथ्वी जैसे अपने होठों को चाट लिया, मैं बाहर आया। अब चाँद डूब चला था। केवल शव पड़े थे। सच कहता हूँ, मैंने किसी को नहीं छुआ। मेरे कानों में अपने सहयात्री के अन्तिम शब्द गूँज रहे थे : इनसे तो तुर्क ही हमें बचायेंगे !

योंही तो बचाया था उन्हें तुर्कों ने !

अपने धर्म के लिये कैसे सारा भारत बलिदान हो रहा था, मैंने देखा। आगे पाँव रखा। कुछ चिपकना सा पावों में लगा। पाँव पीछे खींच लिया। देखा। स्त्री का कटा हुआ स्तन-मांस था। यही था न वह माँस-पिण्ड जिसमें से ममता दूध बनकर उतरती ! वह तो धरती पर पड़ा था ! वह तो अब गीदड़ का भोजन बनेगा।

तभी पीछे की ओर एक सुरसुराहट सी सुनाई दी। मुड़ कर देखा—वह कोई सियार ही था। फिर वह मुँह ऊपर करके चिल्लाया। और तब वन में हुँआ, हुँआ की आवाजें उठने लगीं। दूसरों के बने बनाये शरीर को खाने वाले एक

पशु ने अपने जैसे अन्य पशुओं को निमन्त्रण दिया था, और उसे उन मित्रों ने प्रत्युत्तर भी दिया था, जो साथ ही खाने को लपलपा रहे थे। कैसी संघशक्ति थी ! तो यह बर्बरों में होती ही है ! और किनमें 'नहीं' होती ? जो मुर्दे हो चुकते हैं। यह शव पड़ा है, अगर इसकी आँतें निकाल कर एक सियार धीरे-धीरे चबा कर खायेगा, तब भी बगल में पड़ा वह शव कुछ नहीं कहेगा, जिसकी कि एक आँख में चोंच डालकर अभी अभी कोई गिद्ध पुतली कुतर कुतर कर खा चुका होगा।

आज बहुत दिनों बाद सोचता हूँ कि मुझे भय क्यों नहीं हुआ। उस समय हठात् मुझे एक ही बात याद आई थी कि क्या एक दिन इसी प्रकार रानी पद्मिनी के जौहर की भस्म देख कर भी उसका राजपुरोहित मेरी ही भाँति देखते हुए खड़ा नहीं रह गया होगा।

तब मैंने सोचा ! शूद्र को ब्राह्मण मारता है, बौद्ध अपना राज्य चाहता है। वह तुर्क को ब्राह्मण के विरुद्ध बुलाता है। और ब्राह्मण स्वदेश के इन शत्रुओं से भी लड़ता है। और विदेशी लुटेरों से भी। और इस सबका परिणाम क्या होता है। सब पिसते हैं, तुर्क जीतते हैं। कहते हैं पहले समय में पृथ्वीराज चौहान ने युद्ध किया था किंतु उसे भी विश्वास-घातियों ने हरवा दिया। राजा गण्ड भी विश्वासघात के कारण ही सोमनाथ के लुटेरे गजनवी के हाथों मारा गया था। मुझे आश्चर्य हुआ। और उस समय उस मुर्दों से ढँकी धरती, उस लुटी हुई धरती, उस धरती जिस पर एक युवती

स्त्री के स्तन-प्रदेश से निकल निकल कर अभी तक रक्त रिस रहा था, मुझे न जाने क्यों एक विचित्र सी भावना हुई। यह क्या थी मैं नहीं जानता ! निश्चय ही वह एकमात्र प्रतिहिंसा की भावना नहीं थी। निश्चय ही वह लुटेरों के प्रति जुगुप्सा नहीं थी। वह भी तो एक बात हो सकती थी—वह केवल आत्मघृणा थी और उसके मूल में विवशता नहीं थी, अज्ञान के प्रति विक्षोभ था।

और तब शवों के बीच में खड़े होकर, संसार को सदैव असार कह कर बुरा कहने वाले मैंने, पहली बार यह अनुभव किया कि जीवन को बचाना चाहिये। परमार्थ में मैं स्वयं उस समय भी इस विचार पर सम्भवतः हँस दिया था। जीवन ! कैसा जीवन ! यह रहा जीवन का अन्त। धूलि में पड़ा है। कितनी आशंका थी यहाँ इन लोगों को ! और क्या जानते थे कि यह सब इतना पास है ? मुझे महाभारत की युधिष्ठिर-यक्ष सम्वाद की बात याद आई—कि संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य यही है कि प्राणी नित्य प्राणी को मरते देखता है, फिर भी वह यह नहीं सोचता कि उसे भी मरना है।

हाँ, हाँ, मुझे भी मरना है। किंतु मन ने कहा था कि मरना जितना बड़ा सत्य है, उतना ही बड़ा सत्य जीना भी तो है। क्यों मान लिया जाये कि मृत्यु की अवधि जीवन की अपेक्षा बड़ी है।

उस समय मैं कितना दार्शनिक होगया था ! क्यों ? क्योंकि न तो मेरा कोई स्वजन मरा था, न मुझमें इतनी शक्ति ही थी कि किसी का बदला ले सकूँ। इसलिये मुझे अपनी

वेदना को छिपाने और आत्मरक्षा करने के लिये इस दर्शन की आवश्यकता थी और सम्भवतः इसीलिये वह प्रकट भी हुई थी। किन्तु मैं आज भी उसे श्रेयस्कर मानता हूँ। जो विनाश में अपना तर्क नहीं खोता, और विनाश को एक आकर निकल जाने वाली विपत्तिमात्र समझता है, जीवन को उससे भी ऊँचा समझता है, वही तो मनुष्य है। व्यक्ति की सत्ता की अवधि छोटी ही होती है। जिसका सत्य उस अवधि को ही सत्यमात्र नहीं मानता, वह क्या कभी मर सकता है। अलौकिक की वासना, ऐहिक के त्याग से भी तो ऊँची है। परोक्ष की आशा, प्रत्यक्ष की प्राप्ति से कहीं अधिक उदात्त है। चमड़े से मँढ़े हुए माँस में ही जब मनुष्य अपनी सत्ता को समाप्त नहीं मानता, तब उसका तेजस ही उसका रक्षक बन जाता है।

और तब मुझे लगा मैं हारा नहीं था। कहते हैं अनेक बार तुर्कों ने आक्रमण किये और इस भारत को नष्ट कर देना चाहा किन्तु यह नष्ट नहीं हुआ। तो क्यों आखिर! मैं अभी तक इस सबके मूल में यही मानता हूँ कि हमारा परमेश्वर सदैव ही एक बहुत बड़ा परमेश्वर रहा है, जो तुर्कों के परमेश्वर से बड़ा है और मनुष्य के रूप में हम कितने भी छोटे क्यों न हों, व्यवहार में हम कितने भी दुर्बल क्यों न रहे हों, किन्तु हम न छोटे हैं, न दुर्बल, क्योंकि हमारा परमेश्वर तो बड़ा और सबल रहा है। मनुष्य संसार में अपनी आस्था के अनुसार ही होता है। हमारी आस्था हमारे जीवन के यथार्थ से भी बड़ी है। हमारी आस्था समस्त सृष्टि से मानव हृदय के

तादात्म्य का बिंब है और वह मनुष्य के रक्त मांस में सीमित नहीं रहती, वह पीढ़ी दर पीढ़ी चेतना में ज्योति बनकर उतरती है। इसलिये लौकिक-कर्दम पर ही हमारा विश्वास-कमल खिल रहा है। यह सब ऊँच नीच, क्षुद्रता महानता, घृणा और प्रेम, दरिद्र धनी का भेद, यह सब हमारे अविवेक हैं, जिन्हें संसार के क्षेत्र में प्रयोगात्मक माना गया है, जिनमें दैहिक सुखदुख हैं, किंतु इनसे अधिक शक्तिशाली यह आस्था है, जिसका मूल केवल मानवीयता है और जो प्रयोग के परे हैं, क्योंकि वहाँ मानव की पराजय कभी कुण्ठा में अपनी इति नहीं करती, वह वहाँ व्यापक अनुभूतियों का सृजन करती है और अपनी सारी अपूर्णता को अपने अस्तित्व की क्षुद्रता की अभावात्मक स्वीकृति में अपने लिये एक बंधन के रूप में खड़ा नहीं करती, वरन् सहृदयता का आश्रय लेकर प्रारंभ सृष्टि से अंत प्रलय तक व्यापक रूप में अपने को ही एक महान के रूप में प्रस्तुत करती है!

निस्तब्धता और घनी होगई थी। अब कराहें नहीं थीं, अब सियारों के लाशों को फफेड़ने का शब्द सुनाई देता था और कुछ नहीं।

तब मैं चल पड़ा। पता नहीं कितती दूर चला, कितनी बार कांटे लगे, किंतु मैं विनाश में से बचा था और झपाटवी में चल रहा था। कुछ दूर और चलने पर मुझे एक हल्की सी गीत की आवाज़ सुनाई दी। मैं चकित रह गया। धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए मुझे शब्द स्पष्ट सुनाई देने लगे और ज्यों ज्यों वे मुझे सुनाई देते गये मेरी आत्मा का अंधकार एक

अतीन्द्रिय आलोक से भरता चला गया ।

कोई मीठे स्वर से गारहा था :

तातल सैकत वारि-विंदु सम
सुत-मित- रमनि- समाज......
तोहे विसारि मन ताहे समरपिनु
अब मझु हब कोन काज
तोहे विसारि मन......

क्या सुन रहा था मैं ?

जिस प्रकार तप्त बालू पर जल की बूंद पड़ते ही विलीन हो जाती है, उसी प्रकार इस संसार में पुत्र मित्र और स्त्री हैं, तुझे भूलकर मैंने अपने को इनके हाथों में समर्पित कर दिया है...अब मुझसे क्या कार्य हो सकेगा ?

वही बात ! संसार के स्वार्थ ही सब कुछ नहीं हैं। इनके परे एक व्यापक सत्य की आवश्यकता है, क्योंकि इनमें अपने मैं का अन्त नहीं होता ।

गायक के स्वर में नई चेतना आई :

माधव ! हम परिनाम निरासा···
तुहुँ जगतारन दीन दयामय
अतय तोहर विसवासा···
माधव ! हम परि···

हे माधव मुझे तो इस सबसे परिणाम में निराशा ही हुई । इससे लोक का क्या कल्याण हुआ ? कुछ नहीं । तू तो जग को तारने वाला है, दीन के ऊपर दया करने वाला, तू तो आर्त्तों का सम्बल है··· इस अरक्षित काल में और कौन है···

अतः एक तेरा ही विश्वास है··· वह कौन है··· वह माधव है······

अहं की वेदना से ऊपर यह कैसा उजागर विश्वास है ? गायक ने फिर गायाः

आध जनम हम नींद गमायनु
जरा सिसु कत दिन गेला
निधुवन रमनि-रभस रंग मातनु
तोहे भजव कोन वेला······
आध जनम हम······

सचमुच ! आधा जीवन तो मैंने नींद में गंवा दिया, और वाकी वुढ़ापे, वचपन में निकल गया । जो सवसे श्रेष्ठ समय था तव मैं रमणियों के साथ मधुवन में क्रीड़ा-रत रहा···तुझे मैं भजता भी तो कव···

क्या लाभ हुआ यों अकारथ जीवन विताते हुए । एक से दूसरे को प्रीत कराने वाली शक्ति का तो मैंने विचार ही नहीं किया···अपने सुख में डूवा रहा···मुझे मेरा ही अज्ञान घेरे रहा···मैं जानता हूँ कि यह देह सदैव नहीं रहेगी । किन्तु मैं उसको ही शाश्वत समझ वैठा···आज मुझे लगने लगा है कि जो खेल मैंने खेला वह मेरे एक ही दाँव पर मुझे हार देकर जाने वाला है···

और गायक का स्वर अव और निकट आ गया है—

कत चतुरानन मरि मरि जाओत
न तुअ आदि अवसाना

तोहे जनम पुनि तोहे समाओत
सागर लहरि समाना
कत चतुरानन......

और देखो न ? कितने ब्रह्मा मर मर के नष्ट हो जाते हैं, किन्तु तेरा आदि और अवसान नहीं मिलता । अभी मैं मुर्दों से ढँकी हुई पृथ्वी पर से आ रहा हूँ । तो यहीं अन्त नहीं है ? अभी जो युद्ध हुआ वह अन्त नहीं है । तीन सौ बरसों से जो विनाश हो रहा है वह भी कुछ नहीं है? नहीं है, नहीं है। यह तो एक ब्रह्मा का युग है। युग नहीं पल। पल नहीं, पल से भी छोटा। ब्रह्मा ! सृष्टि करता है। वह रचता है। वही एक दिन सबका प्रारम्भ करता है, और वह भी अन्त में नष्ट हो जाता है, वह नहीं रहता...नहीं रहता... उसकी विशाल सत्ता भी अल्प है । उससे भी वड़ा समय है, समय से बड़ा कौन है...बह जो दीनबन्धु है...माधव है... जगतारन है...पानी के बुलबुले की तरह ब्रह्मा आते हैं विनष्ट हो जाते हैं...पच पच कर हार जाते हैं, किन्तु अन्त नहीं पाते...तो मनुष्य इतने बड़े सत्य का अनुभव कर सकता है, कि स्वयं उसका विधाता, एक विधाता नहीं, अनेक अनेक विधाता भी, उसके सत्य की वास्तविकता को नहीं जान सकते ...उसके न आदि को जानते हैं...न उसके अन्त को ही पहँचानते हैं...यह तो सागर है, यह तो सागर की लहर है... लहर सागर से उठती है, उसी में विलीन हो जाती है... जिसमें से जन्म लेती है, उसमें उसका अवसान हो जाता है ...तो हम हारे नहीं हैं...वह तो लहरें हैं आती है...जाती हैं

···अक्षय शक्ति का अमर स्रोत है यह···

मैं विभोर होने लगा। गायक का स्वर तब और भी स्पष्ट सुनाई दिया—

भनइ विद्यापति सेष सयन मय
तुअ बिन गति नहिं आरा
आदि अनादिक नाथ कहा ओहि अब
तारन भार तोहारा······
तारन भार तोहारा······
तारन·······

विद्यापति कहता है कि हे शेषशार्य ! तेरे बिना मेरी गति और नहीं है, तू आदि अनादिक नाथ कहाता है तो मुझे तारने का भार फिर तुझ पर ही हो····

मैं रुक गया। देखा एक मशाल जल रही थी। एक वृद्ध पास बैठा गा रहा था। सिर के बाल लंबे और सफ़ेद थे; दाढ़ी मूंछें सफ़ेद थीं। छोटा सा आदमी था। पास में कई लोग थे····स्त्री भी···पुरुष भी··· पूरा यात्री दल था···· बैल···गाड़ी···कुछ घोड़े····और सब सो रहे थे····वही गा रहा था···निर्द्वन्द्व···इसे प्राणों का भय नहीं···

मैं उसके पास जाकर बैठ गया। मुझे इस प्रकार बैठते हुए लगा मैं माधव के पास आ गया हूँ। इस समय मुझे रुलाई सी आने लगी। अब जब कि संवेदना को प्रगट होने का अवसर मिला, मुझे अपने को कातर बना देने में एक आत्मिक सुख मिलने लगा···मैं अपने को दुखी कह कर दूसरों की सहानुभूति पाकर मनुष्यत्व के उदात्त रूप को जैसे देखकर

लोकान्तकारिणी करुणा की महत्ता का अनुभव करने का इच्छुक हो उठा था…

'रोओो नहीं' वृद्ध ने गीत समाप्त करके कहा—'क्यों रोते हो? छिः छिः, कृष्ण के लोक में कैसे रुदन ? चारों ओर आनन्द ही तो है?'

क्षण भर अवाक् रह कर मैंने उसकी ओर देखा।

फिर कहा : आनन्द ! कहाँ है आनन्द ! चारों ओर हाहाकार मच रहा है…चारों ओर विनाश छा रहा है… मुसलमान लूट रहे हैं…बौद्ध छल कर रहे हैं…

'नहीं, माधव!' वृद्ध ने कहा: 'मुसलमान कहाँ लूटते हैं, तृष्णा लूटती है, अहंकार लूटता है, बौद्ध छल कहाँ करते हैं, स्वार्थ करता है…विष्णु ने तो स्वयं बुद्ध का अवतार ग्रहण किया था…

वृद्ध ने गाया…

केशव धृत बुद्ध शरीर…

मैं उसे देखता रह गया।

मैंने गला साफ करके कहा : वहाँ, वहाँ लाशें कटी पड़ी हैं…तुर्कों ने स्त्री के स्तन काट दिये…

मैं विक्षोभ से व्याकुल हो गया, कुछ कह नहीं सका।

वृद्ध ने कहा: माँ ने धरती को रक्त से भिगोया है? एक दिन पूतना नामक स्त्री ने विष लेप करके माधव के मुख में दिया था न? आज उसका प्रायश्चित्त हो गया, आज उस पाप का भी परिष्कार हो गया भैया'

मैं कुछ नहीं कह सका।

हवा अब ठंडी चलने लगी थी। दूर कहीं वन के सुगंधित फूलों पर से झूमती वायु अपने साथ सुरभि उड़ाए लिए चली आ रही थी। मुझे भूख लग रही थी। कहते हैं न लोग कि गांधारी को अपने सौ बेटो की लाशों के बीच खड़ी होकर भूख लगी थी सो उसने पुत्रों के शवों के ढेर पर खड़े होकर पेड़ में लटका आम तोड़ने की चेष्टा करते में हाथ नीचे रह जाने पर कहा था कि एक मुर्दा यानी एक बेटा और होता तो मैं इस फल तक पहुंच गई होती, वैसे ही मुझे भी भूख लगी। देह पूजा का लोलुप आसुर मेरे भीतर जाग उठा।

परन्तु मैं न जाने क्यों इतना थक गया था, इतना निर्जीव हो गया था मैं कि कुछ भी न कहने का मन होता था, न करने का। मानों मैं प्रलय के बाद बचा हुआ एक निरीह कीड़ा था, जो अब भीं चुपचाप पड़ा हुआ ईश्वर को अपने जीवित रह जाने के लिए धन्यवाद दे रहा था।

किन्तु क्या था मेरे जीवन का मोल। वृद्ध अब भी कभी कभी कोई पंक्ति गा उठता था और सब भूल सा जाता था।

मैं नहीं जानता कब मैं वहीं पड़ा हुआ सो गया और भयानक स्वप्नों को देख देख कर डरता रहा।

जब मेरी आंख खुली तब मैंने देखा सब लोग जाग उठे थे। वे लोग समवेत स्वर से गा रहे थे। यह क्या? यह लोग भयभीत नहीं हैं? इन्हें न तुर्कों का डर है, न किसी का!

मैं उठ कर बैठ गया। गीत बड़ा लुभाना था। मैं सुनता रहा—वे गाते रहे—

हे माधव ! मैं अत्यन्त विनीत बारम्बार तुम्हारे सामने प्रार्थना करता हूँ और विनती करता हूँ कि तुम मुझे अपने चरणों से अलग न कर देना ।

हे माधव ! मैं तुलसीदल और तिल चामरी से पूजन कर के अपनी देह तुम पर समर्पित करता हूँ, तुम मुझे कहीं अपने चरणों से पृथक न कर देना ।

हे माधव ! यदि तुम मेरे पाप पुण्यों के लेखे का ध्यान करोगे तब तो तुमको मुझमें करोड़ों दोष और छिद्र दिखाई देंगे और गुणों का तो आभास तक भी नहीं मिलेगा ।

हे माधव ! तुम तो जगन्नाथ कहाते हो और जगत के परे तो शून्य ही शून्य है....

हे माधव ! यदि अपने कर्मानुसार मुझे अगले जन्म में भी मनुष्य शरीर प्राप्त हो या मैं पशु पक्षी होकर जनम लूं या मुझे कीट पतंगों की ही योनि ग्रहण करनी पड़े या अपने कर्म वियाक से मुझे बारम्बार जन्म लेना पड़े....तब भी मेरी यही एक प्रार्थना है कि तुम मुझे ऐसा वरदान दो, ऐसा वरदान दो कि मेरी मति सदैव ही तुम्हारे चरणों में ही लीन रहे और तुम्हारी ओर ही मेरा ध्यान बना रहे !

अपने कर्मफल से अत्यन्त कातर और भयभीत कवि विद्यापति कहता है कि हे माधव ! कृपा करके मुझे इस भव-सागर से पार करदो ।

हे दीनबन्धु ! चरण कमलों का आश्रय लेकर मैं इस भवसागर को तरण कर जाना चाहता हूँ ।

गीत चलता रहा और काम होते रहे, मानों

लिए जीवन नहीं था, जीवन के लिये गीत था····

अब मैंने पहचाना। यह तो गौराङ्ग महाप्रभु चैतन्य के शिष्य थे और वृन्दावन जा रहे थे।

गीत की अन्तिम हिलोर अब भी वायु में काँप रही थी······

सिर मुंडाये वृद्धाएं, और तरुणियां, तरुण और वृद्ध, वालक और वालिकाएं···सव जैसे एक गीत ही तो थे वे···

अपनी कथा को संक्षिप्त करके कहूँ कि मैं भी उनके साथ चल पड़ा।

वृद्ध वैष्णव ने मुझसे कहा : वत्स ! उठो। निराश न हो। मधुसूदन कभी रोते हुए भक्तों को नहीं चाहते। आओ चलें······

शताब्दियों से जो वृन्दा नाम से विख्यात एक वन पड़ा था, वहाँ जाकर गौराङ्ग महाप्रभु ने कृष्ण की वाललीला के स्मारक के रूप में एक नगर वसाया था, जो अब वृन्दावन कहलाने लगा था। वह कोटि कोटि गौरांग शिष्यों का एक पुण्यतीर्थ था।

और तव मस्त होकर वे कीर्त्तन करने लगे·· ···

राधे गोविंद हरि···

हरि वोल···हरि वोल···

अनन्त विस्मय में डूबा रह गया मैं, कि वे सव विभोर होकर नाचते गाते चले जा रहे थे और जव वे एक ग्राम में से निकले, घोड़ों पर सवार तुर्कों ने उन्हें रोक दिया। किन्तु वहाँ सुनता कौन था ! वे तो नाच रहे थे, गा रहे थे।

तुर्कों के स्वर गरजने लगे, उन्होंने एक कीर्त्तनिया को पकड़ कर खींच लिया···परन्तु वह गाता ही रहा···तुर्कों की नमाज़ में व्याघात पड़ा था···अतः वे इस कुफ्र को रोकने आये थे··· उन्हीं की प्रजा और यह हिम्मत···किन्तु वे नहीं रुके···· उन्होंने पकड़े हुए व्यक्ति को मार डाला····किन्तु बाकी गाते रहे, चलते रहे···धीर·पग रखते, नाचते···जैसे कुछ नहीं हुआ····निर्द्वन्द्व···निर्भीक···

मैंने हिन्दुओं की भीड़ को चुपचाप उस अत्याचार को देखते हुए पाया और मैं न जाने कैसे चिल्ला उठा : कायर ! धिक्कार है तुम्हें···

जिस व्यक्ति को तुर्कों ने मारा था, वह एक शूद्र था··· अपराजित था वह···

अचानक ही भीड़ हिल उठी और तब मैंने तुर्कों को भागते देखा···

मधुसूदन···जनार्दन···वासुदेव जाग गए थे···

किन्तु कीर्तनिया फिर भी गा रहे थे···झूम रहे थे···नाच रहे थे···वे न जाने किस अतीन्द्रिय तन्मयता में डूबे हुए थे, उनके लिए रूप और कुरूप के क्षुद्र बंधन नहीं थे, न धनी दरिद्र के कुटिल भेद ही जीवित थे, वे तो इन सबके पार थे···

राधे गोविंद राधे···

राधे गोविंद हरि···

और फिर हरि बोल···

धीरे धीरे सारी भीड़ गाने लगी। मैंने भय के कुहरजाल

को फटते देखा···

इस भीड़ में सब जातियाँ थीं···नीच भी···ऊँच भी···

किन्तु यहाँ सब निर्भय थे···

निर्भीक थे सब···

निर्द्वन्द्व से लग रहे थे वे···

घुटे हुए गलों से सुरीला किन्तु प्रचण्ड शब्द निकल रहा था····

अपराजित संस्कृति पुकार रही थी···

कोई भी दमन इसे कुचल नहीं सकता था···

और तब मैं भी गाने लगा···

राधे गोविंद राधे····

राधे गोविन्द हरि····

और फिर हरि बोल····

हरि बोल···

फैलता स्वर, लरजती मिठास, झूमती तन्मयता, और अपराजेय निर्भीक चेतना। वही झंकार, वही आरोह, वही अवरोह···और तब एक वंशी निनाद···अन्तरात्माओं के मोतियों को बींध सा जाता हुआ डोरा था वह, रोम रोम में भीतर भीतर जो रम गया···

भीड़ गाती रही और फिर मुझे याद नहीं रहा कि कब तक हम गाते रहे····कितनी देर तक वह निर्भीक एकता का स्वर भारतभूमि पर गूँजता रहा···

वह वैष्णव स्वर था····दूसरों की वेदना को जानने वाला, ज्ञान की सारी सीढ़ियों के परे भक्ति का···

राधे गोविंद राधे····

राधे गोविन्द हरि

और फिर···

हरि बोल····

महाप्रभु गौरांग के शिष्यों में मुसलमान भी थे और भक्ति के क्षेत्र में हिन्दू मुसलमान का प्रश्न ही नहीं था । ईश्वर सबके लिये एक था । हिन्दू हो या मुसलमान, सबके लिये परमात्मा एक था । सब मनुष्य तो एक से थे । किन्तु यह 'हरिबोल' दरिद्रों का सहायक था, नींच जातियों का उद्धारक था, ब्राह्मणों की अहम्मन्यता को प्रेम का पाठ था, यह तो इस्लाम की आड़ में पलने वाली अरबी और ईरानी संस्कृति को भारतीय संस्कृति की मानवीयता की चुनौती थी, मानों भारत की आत्मा अपने ऊपर से विदेशी जूए को उठाकर फेंक देना चाहती थी । और मैंने गाँव गांव में उस विद्रोही स्वर को फैलते देखा । बंगवासियों की एकांतिक असहिष्णु अहम्मन्यता इस एक स्वर से खण्डित होती चली जारही थी । मुझे जीवन का एक नया स्वप्न दिखाई दे रहा था ।

ग्राम ग्राम में किसान मिलते जिन्हें तुर्कों के जज़िया (कर) ने कुचल रखा था । जज़िया इस्लाम की आड़ में विदेशी शासकों द्वारा भारतीय मेहनतकश को लूटने का साधन था । भारतीय दस्तकारी कुचली पड़ी थी । ठौर ठौर पर जो पीर, ख्वाजा और क़ाज़ी धर्म की आड़ में अहंकार करके राजनैतिक दल बसाये थे, वे सब इस 'हरिबोल' से चिंता में पड़ गये थे । और मैंने पथ में महाराष्ट्र के नामदेव

के शिष्यों की भक्ति देखी। सारा भारत इस भीषण अत्याचार के प्रवाह के बाद भी मुझे तो अपराजित दिखाई पड़ा।

राधे गोविंद हरि...

राधे गोविंद राधे...

और...

हरिबोल...

आत्मा का जागरण...

मानों शेष-शैय्या से आंर्गधा की युगान्तर व्यापिनी निद्रा का त्याग...

और तब घंटियाँ बजने लगीं, और ज्यों ज्यों हम तुर्कों के गढ़ गंगा-यमुना प्रदेश में पहुंचने लगे, मैंने देखा कि वहाँ के शूद्र वंग और मगध के बौद्धों की भाँति इस्लाम ग्रहण नहीं कर रहे थे, और साथ ही ब्राह्मणों की कट्टरता का भी विरोध कर रहे थे, किंतु अपनी भारतीयता को ही सर्वोपरि मान रहे थे, वहाँ यह घंटियाँ बजती रहीं और फिर घन्टों का गंभीर विनाद गूंजने लगा...और जो हमने वृन्दावन में प्रवेश किया मेरा मन तपस्पूत सा होगया।

वृद्ध ने कहा : आगया वृन्दावन! वृन्दावन!

'जय गोपाल!'

'जय माधव!'

'हरे मुरारे, मधुकैटभारे...

'नन्द क नन्दन कदम्ब क तरु तर

धिरे धिरे मुरलि बजावे...

समय संकेत—निकेतन वइसल

बेरि बेरि बोलि पठाव...
सामरि तोरा लागि,
अनखन विकल मुरारि
जमुना क तिर उपवन उदवेगल
फिरि फिरि ततहि निहारि
गोरस बेचए अबइत जाइत
जनि जनि पुछ बनमारि
तोहि मतिमान, सुमति, मधुसूदन
वचन सुनहि किछु मोरा
भनइ विद्यापति सुन बरजोवति
बन्दह नन्द किसोरा''❀

मैं झूम रहा हूँ...

नाम समेतम् कृत संकेतम्
वादयते मृदुवेणुम्

❀ हे राधे ! नन्दनन्दन श्रीकृष्ण कदम्ब के वृक्ष के नीचे बैठे धीरे धीरे मुरली बजा रहे हैं।

हे राधे। संकेत स्थान में बैठे मिलन का समय हुआ जान कर कृष्ण मुरली के स्वरों में तुम्हें पुकार रहे हैं...

हे राधे ! हे श्यामा ! तुम्हारे कारण मुरारी प्रतिक्षण विकल हो रहे हैं। यमुना तीरस्थ उपवन में अत्यन्त व्याकुलता से वे बारम्बार उसी ओर देखते हैं जिधर से तुम्हारे आने की आशा है...

हे राधे ! गोरस बेचकर लौटने वाली और बेचने जाने

मैंने कहा: बावा...यह विद्यापति कौन है ?

'है नहीं, वत्स, था कहो।'

'कौन था ?'

'लखिमा का उपास्य !

'लखिमा कौन थी !'

'मिथिला की रानी।'

मैं समझा नहीं ।

वृद्ध ने फिर कहा: वत्स ! तू नहीं जानता ? इसी अभिनव जयदेव विद्यापति की कविताएं गाते हुए गौरांग महाप्रभु आनन्द से विह्वल होकर मूर्छित तक हो जाते थे। उसके गीतों की माधुरी को सुनेगा ? बोल ! सुनेगा ?

मैंने कहा: सुनूँगा ।

तब भोर ने आकाश में जब अपनी लाली बिछाई बाबा ने गाया—

किस विधना ने ऐसी शशिमुखी बाला का निर्माण किया है कि जिसका रूप ऐसा अद्भुत है । वह कामदेव के शुभ स्वरूप की भाँति ही अनुपमेय है। वह तो त्रिभुवन को पराजित करने वाली माला की भाँति है।

वाली प्रत्येक गोपी से वनमाली तुम्हारे सम्बन्ध में पूछ रहे हैं....

हे सुमति, हे चतुरनारी, मेरी कुछ बातें तो सुनो।

मधुसूदन तुम पर अनुरक्त हैं...

विद्यापति कहता है कि युवतियों में श्रेष्ठ राधे ! तुम नंदकिशोर की वंदना करो...

अत्यन्त सुन्दर है मुख और अंजन से रंगे हुए हैं नेत्र।

सुन्दर कमल की भाँति सुशोभित आनन में वे काजल लगे नयना ऐसे लगते हैं जैसे सुवर्ण कमल में काल सर्पिणी क्रीड़ा कर रही हो। नहीं। वह तो श्रीयुक्त खंजन हैं, नेत्र नहीं, जो सुवर्ण के कमल में क्रीडा कर रहे हैं।

नाभि रूपी विवर से निकलने वाली रोम रोमराजि ऐसी लगती है जैसे सर्पिणी बाला के सुवासित श्वासों की तृष्णा से भर कर, आगे सरकी हो, किंतु नुकीली नाक को पक्षिराज गरुड़ की चंचु समझकर भय से व्याकुल होकर कुचरूपी दो पर्वतों के बीच के सकीर्ण स्थान में आकर छिप गई हो।

श्रवण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन जैसे शरों से लोक को वश में करने वाला मदन भी तीनों लोक तो तीन ही बाणों से वशीकृत कर रहा है, उसके पास दो बाण तो अब भी शेष हैं। किन्तु विधाता तो बड़ा निष्ठुर है न ? तभी कदाचित उसने वे दोनों ही वाण इस सुन्दरी के दोनों नेत्रों में रख दिये हैं।

विद्यापति कहता है कि हे सुन्दरी इस रस को तो कोई कोई ही जानते हैं। लखिमा देवी के पति राजा सिवसिंह रूप नारायण तो इस रस रीति से भलीभाँति परिचित है...

और जब आकाश में मेघ चमकती बिजलियाँ भर लाये तब तरुणियों ने गाया...

हे सखी हे सखी री
भीमकाय सर्प सी रात्रि काजल उगल रही है...
दुर्वार वज्र गिर रहे हैं...

मैने कहा: वावा'''यह विद्यापति कौन है ?

'है नहीं, वत्स, था कहो।'

'कौन था ?'

'लखिमा का उपास्य !

'लखिमा कौन थी !'

'मिथिला की रानी।'

मैं समझा नहीं।

वृद्ध ने फिर कहा: वत्स ! तू नहीं जानता ? इसी अभिनव जयदेव विद्यापति की कविताएं गाते हुए गौरांग महाप्रभु आनन्द से विह्वल होकर मूर्छित तक हो जाते थे। उसके गीतों की माधुरी को सुनेगा ? वोल ! सुनेगा ?

मैंने कहा: सुनूँगा।

तव भोर ने आकाश में जव अपनी लाली विछाई वावा ने गाया—

किस विधना ने ऐसी शशिमुखी वाला का निर्माण किया है कि जिसका रूप ऐसा अद्भुत है। वह कामदेव के शुभ स्वरूप की भाँति ही अनुपमेय है। वह तो त्रिभुवन को पराजित करने वाली माला की भाँति है।

वाली प्रत्येक गोपी से वनमाली तुम्हारे सम्वन्व में पूछ रहे हैं....

हे सुमति, हे चतुरनारी, मेरी कुछ वातें तो सुनो।

मधुसूदन तुम पर अनुरक्त हैं...

विद्यापति कहता है कि युवतियों में श्रेष्ठ रावे ! तुम नंदकिशोर की वंदना करो...

अत्यन्त सुन्दर है मुख और अंजन से रंगे हुए हैं नेत्र।

सुन्दर कमल की भाँति सुशोभित आनन में वे काजल लगे नयना ऐसे लगते हैं जैसे सुवर्ण कमल में काल सर्पिणी क्रीड़ा कर रही हो। नहीं। वह तो श्रीयुक्त खंजन हैं, नेत्र नहीं, जो सुवर्ण के कमल में क्रीडा कर रहे हैं।

नाभि रूपी विवर से निकलने वाली रोम रोमराजि ऐसी लगती है जैसे सर्पिणी बाला के सुवासित श्वासों की तृष्णा से भर कर, आगे सरकी हो, किंतु नुकीली नाक को पक्षिराज गरुड़ की चंचु समझकर भय से व्याकुल होकर कुचरूपी दो पर्वतों के बीच के सकीर्ण स्थान में आकर छिप गई हो।

श्रवण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन जैसे शरों से लोक को वश में करने वाला मदन भी तीनों लोक तो तीन ही वाणों से वशीकृत कर रहा है, उसके पास दो बाण तो अब भी शेष हैं। किन्तु विधाता तो बड़ा निष्ठुर है न ? तभी कदाचित उसने वे दोनों ही वाण इस सुन्दरी के दोनों नेत्रों में रख दिये हैं।

विद्यापति कहता है कि हे सुन्दरी इस रस को तो कोई कोई ही जानते हैं। लखिमा देवी के पति राजा सिवसिंह रूप नारायण तो इस रस रीति से भलीभाँति परिचित है...

और जब आकाश में मेघ चमकती बिजलियाँ भर लाये तब तरुणियों ने गाया...

हे सखी हे सखी री
भीमकाय सर्प सी रात्रि काजल उगल रही है...
दुर्वार वज्र गिर रहे हैं...

मन में क्रोध भरकर मेघ गर्जन तर्जन कर रहे हैं...

हे सखी...

अभिसार तो संशय में पड़ गया है

सजनी री, वचन छोड़ते मुझे तो लाज आरही है...

होना होगा सो हो लेगा...

मैं तो सब अंगीकार कर लूंगी...

मेरे मन ! तू मुझे साहस दे न ?

हाय । मेरा अपवाद होगा जानती हूँ किंतु हृदय की सीमा तक उत्पन्न होने वाले को कौन जानता है...राहु ग्रसे तो क्या हुआ, चंद्रमा तो अपने प्रिय हरिण का चिह्न धारण किये रहता है....

प्रेम में पराजय नहीं हैं...

चरणों में सर्प लिपट गया, बाला ने उसे धन्य कहा क्यों कि अब नूपुर तो रोर नहीं करते....

हे सखी सचसच बताना, प्रेम की अंतिम सीमा क्या है ? कैसा सघनांधकार है कि वहीं वहीं लौट आती हूँ ? पृथ्वी स्पर्श से ही मिल रही है । दिशा का भ्रम होगया है...

हे हरि, हे शिव, जब तक प्रेम नहीं उपजता तब तक मन तो ऐसे ही भटका करता है...

विद्यापति कहता है कि सुचेतने ! अभिसार के लिये जाने में देर मत कर, राजा सिवसिंह रूप नारायन इस सकल कला के अवलंब हैं....

मैंने सुना । सारे वृन्दावन ने सुना ।

मिथिला का कवि विद्यापति !

लखमा का उपास्य !

कैसे चुम्बक से खींच लेते थे उसके गीत मेरे मन को !

अब मुझे रिक्ति क्यों नहीं लगती थी !

मेरी यह वेदना तो प्रेम की वेदना थी न ?

मैं तो विरह से व्याकुल हो गया था—

हे सखी ! प्रियतम अब तक लौट कर नहीं आये।

हाय मेरा हृदय भी कैसा बज्र है कि अभी तक विदीर्ण नहीं हुआ।

उनके आने के दिन का चिह्न बनाते बनाते मेरे तो नख घिस गये और पथ देखते देखते नयन अँधा गये....

जब वे मुझे छोड़कर गये थे तब मैं अज्ञात यौवना किशोरी थी और अब पूर्णतरुणी होगई हूँ... अब वे मेरे पास क्यों नहीं आते ? हाय मेरे दुर्भाग्य !

समय आया है जब रस विलास का, तभी वे मुझ से दूर हैं ?

मेरे तो सारे पुराने गुण भी उन्होंने भुला दिये ?

विद्यापति कहता है कि राधे सुनो ! हम प्रयत्न करके कृष्ण को समझायेंगे कि वह तुम्हारे पास लौट कर आजायें···

माधुरी····

विभोर माधुरी···

अब मैं आपूरित सा हूँ···और सूनना चाहता हूँ···मेरा माधव ही न इतनी क्रीड़ा कर रहा है···

और तब मधु आ गया, ऋतुराज वसंत··· भक्तों में आनंद की हिलोर सी बह उठी····

उपवनों से सुनाई पड़ने लगा वह संगीत जिसके साथ सारे वाद्यों का स्वर प्रतिध्वनित होने लगा। मैंने सुना—

आ गये, ऋतुराज वसंत आ गये ··

अलिदल माधवीलताओं की ओर दौड़ चले,

रवि किरणें कुछ तीव्र हो गईं,

केशर कुसुमों में स्वर्णिम पराग केसर निकल आए····

ऋतुराज के सिंहासन के लिए पीठल की कोमल पत्तियाँ निकल आईं और चंपा के वृक्षों ने अपने मस्तकों पर पुष्पों का छत्र धारण कर लिया····

आम्रवृक्ष की मंजरियाँ ऋतुराज का मुकुट हैं और सभा में विरुदावली गाने वाले वंदीजनों की भाँति कोयल ने पंचम तान छेड़ दी····

नर्त्तकों और गायकों की भाँति मयूर नृत्य कर रहे हैं और भ्रमर गुंजन भर रहे है····

पक्षियों के श्लोक नांदीपाठ करते हैं···

ऋतुराज के आगमन के आनन्द में पुष्पों से उड़ते पराग वायु पर चँदोवे की भाँति छा गये हैं और मलयाचल से आता दक्षिण पवन बड़े स्नेह से इस पराग को बिखेर रहा है····

कुंदवल्ली का तरु पताका है, पाटल के पल्लवों का तूणीर है और अशोक के नुकीले वृक्ष उसके बाण····

धनुष की भाँति पलाश के पत्तों पर प्रत्यंचा की भाँति लवंग लता की शाखाएं है और ऋतुराज ने रणसज्जा सजाई है····किन्तु शिशिर का सैन्य दल तो पहले ही भंग हो गया··

ऋतुराज ने मक्खियों की सेना से शिशिर को निर्मूल कर

दिया।

लो ! कमलिनी का उद्धार किया है और उसने अपने नूतन पल्लव ही ऋतुराज के सिंहासन के लिए प्रदान कर दिये....

कवि विद्यापति कहता है कि ऋतुराज के आगमन से ही वृन्दावन में नवजीवन का संचार हो गया...

और यों दिन पर दिन निकलते गये।

मैं प्रातः उठता और सारा दिन भजन पूजन में ही निकल जाता। अब मेरा तर्क जाने कहाँ चला गया था।

हम लोग रास रचाते, गाते, बजाते...

उन्हीं दिनों संवाद आया कि दिल्ली में फिर कुछ हल-चल हो रही है....लूट और हत्या....

मैंने वृद्ध वैष्णव के चरणों पर सिर झुका कर कहा: गुरुदेव ! इतने दिन निकल गए। जीवन की शून्यता तो मिटी, संबल भी मिला, किन्तु माधुरी का सार अभी तक नहीं मिला, जो फिर केवल तृप्ति छा जाती।

वृद्ध क्षण भर सोचता रहा। फिर उसने कहा: वत्स !

'गुरुदेव !'

'तूने प्रेम किया कभी ?'

'किया देव !'

'किससे ?'

'मुरारी से !'

'राधा से नहीं ?'

मैं आहत हुआ।

वृद्ध ने फिर कहा: 'तूने विवाह किया ?'

'नहीं देव !'

'तो तूने केवल परमात्मा से ही प्रेम किया !'

मैं सनझा नहीं

मैंने गर्व से कहा : 'हां गुरुदेव ! केवल परमात्मा से ही किया।'

'यही भूल की ।'

मैं आकाश से गिरा।

'तो फिर ?' मैंने पूछा ।

'कभी मनुष्य से भी किया ?'

मैंने सिर झुका लिया।

वृद्ध ने फिर कहा : 'वत्स !'

मैंने आंखें उठाईं ।

'पूछूं ?'

मैंने आंखों से इंगित किया : पूछें।

वृद्ध ने धीरे से कहा : नारायण तो व्यापक हैं, परे हैं, सबसे ही हैं न ?

'हैं तो गुरुदेव !'

'तो बता, फिर उन्हें ही नरतन में आकर क्रीड़ा करने की आवश्यकता क्या थी ? वे जो इतने रस का वर्षण कर गये हैं, आखिर क्यों ? क्यों उन्होंने दीनबंधु का रूप धारण करके लोक का उद्धार किया। वत्स ! एक बात पूछूं। तू तो बहुत पढ़ा लिखा है।'

'पूछें।'

'क्या कभी अवतार के रूप में भगवान केवल क्रीड़ा करने पृथ्वी पर आये हैं ?'

'नहीं गुरुदेव ! वे तो सदैव आनन्द के साथ परोपकार करने आये हैं।'

वृद्ध के मुख पर हास्य की ज्योति सी विखर उठी। उसने कहा: 'फिर बता कि तुझे तृप्ति क्यों नहीं मिली ? मेरे मुरारी ने प्रेम किया था वत्स ! किंतु वह स्वार्थरत प्रेम नहीं था जो परिवार की स्त्रीचर्य्या में समाप्त हो जाये। वह तो ऐसा प्रेम था जो दांपत्य के बंधनों को भी स्वीकार नहीं करता था। तू नहीं जानता जिन भक्तों ने पहले पहल प्रेम और भक्ति के इस तादात्म्य को देखकर जीवन को अमृत का दान दिया था, उन्हें कितने विरोध सहने पड़े थे ! किन्तु विरोधों की सत्ता सदैव युग बंधन में होती है। जब व्यक्ति लोक की मर्यादा को उदात्तरूप में देखता है तब वह क्षुद्रताओं से परे उठ जाता है। तू उठ सकेगा ?'

'मैं यत्न करूँगा देव ! नहीं जानता ऐसा किसी ने किया भी है, या नहीं ?'

'क्यों नहीं किया ?'

'किसने किया था देव !'

'विद्यापति ने !'

फिर विद्यापति !!

अभिनव जयदेव !

मेरे मन का कौतूहल जाग उठा।

मैंने कहा: 'गुरुदेव ! मुझे संबल चाहिये। महाकवि की

वृद्ध ने फिर कहा: 'तूने विवाह किया ?'

'नहीं देव !'

'तो तूने केवल परमात्मा से ही प्रेम किया !'

मैं सनझा नहीं

मैंने गर्व से कहा : 'हाँ गुरुदेव ! केवल परमात्मा से ही किया।'

'यही भूल की ।'

मैं आकाश से गिरा ।

'तो फिर ?' मैंने पूछा ।

'कभी मनुष्य से भी किया ?'

मैंने सिर झुका लिया ।

वृद्ध ने फिर कहा : 'वत्स !'

मैंने आँखें उठाई ।

'पूछूं ?'

मैंने आंखों से इंगित किया : पूछें ।

वृद्ध ने धीरे से कहा : नारायण तो व्यापक हैं, परे हैं, सबसे ही हैं न ?

'हैं तो गुरुदेव !'

'तो बता, फिर उन्हें ही नरतन में आकर क्रीड़ा करने की आवश्यकता क्या थी ? वे जो इतने रस का वर्षण कर गये हैं, आखिर क्यों ? क्यों उन्होंने दीनबंधु का रूप धारण करके लोक का उद्धार किया । वत्स ! एक बात पूछूं । तू तो बहुत पढ़ा लिखा है ।'

'पूछें ।'

'क्या कभी अवतार के रूप में भगवान केवल क्रीड़ा करने पृथ्वी पर आये हैं ?'

'नहीं गुरुदेव ! वे तो सदैव आनन्द के साथ परोपकार करने आये हैं।'

वृद्ध के मुख पर हास्य की ज्योति सी बिखर उठी। उसने कहा : 'फिर बता कि तुझे तृप्ति क्यों नहीं मिली ? मेरे मुरारी ने प्रेम किया था वत्स ! किंतु वह स्वार्थरत प्रेम नहीं था जो परिवार की स्त्रीचर्य्या में समाप्त हो जाये। वह तो ऐसा प्रेम था जो दांपत्य के बंधनों को भी स्वीकार नहीं करता था। तू नहीं जानता जिन भक्तों ने पहले पहल प्रेम और भक्ति के इस तादात्म्य को देखकर जीवन को अमृत का दान दिया था, उन्हें कितने विरोध सहने पड़े थे ! किन्तु विरोधों की सत्ता सदैव युग बंधन में होती है। जब व्यक्ति लोक की मर्यादा को उदात्तरूप में देखता है तब वह क्षुद्रताओं से परे उठ जाता है। तू उठ सकेगा ?'

'मैं यत्न करूँगा देव ! नहीं जानता ऐसा किसी ने किया भी है, या नहीं ?'

'क्यों नहीं किया ?'

'किसने किया था देव !'

'विद्यापति ने !'

फिर विद्यापति !!

अभिनव जयदेव !

मेरे मन का कौतूहल जाग उठा।

मैंने कहा : 'गुरुदेव ! मुझे संबल चाहिये। महाकवि की

वृद्ध ने फिर कहा: 'तूने विवाह किया ?'

'नहीं देव !'

'तो तूने केवल परमात्मा से ही प्रेम किया !'

मैं सनझा नहीं

मैंने गर्व से कहा : 'हाँ गुरुदेव ! केवल परमात्मा से ही किया।'

'यही भूल की ।'

मैं आकाश से गिरा।

'तो फिर ?' मैंने पूछा ।

'कभी मनुष्य से भी किया ?'

मैंने सिर झुका लिया।

वृद्ध ने फिर कहा : 'वत्स !'

मैंने आँखें उठाईं ।

'पूछूं ?'

मैंने आँखों से इंगित किया : पूछें।

वृद्ध ने धीरे से कहा : नारायण तो व्यापक हैं, परे हैं, सबसे ही हैं न ?

'हैं तो गुरुदेव !'

'तो बता, फिर उन्हें ही नरतन में आकर क्रीड़ा करने की आवश्यकता क्या थी ? वे जो इतने रस का वर्षण कर गये हैं, आखिर क्यों ? क्यों उन्होंने दीनबंधु का रूप धारण करके लोक का उद्धार किया। वत्स ! एक बात पूछूं। तू तो बहुत पढ़ा लिखा है।'

'पूछें।'

'क्या कभी अवतार के रूप में भगवान केवल क्रीड़ा करने पृथ्वी पर आये हैं ?'

'नहीं गुरुदेव ! वे तो सदैव आनन्द के साथ परोपकार करने आये हैं।'

वृद्ध के मुख पर हास्य की ज्योति सी बिखर उठी। उसने कहा : 'फिर बता कि तुझे तृप्ति क्यों नहीं मिली ? मेरे मुरारी ने प्रेम किया था वत्स ! किंतु वह स्वार्थरत प्रेम नहीं था जो परिवार की स्त्रीचर्य्या में समाप्त हो जाये। वह तो ऐसा प्रेम था जो दांपत्य के बंधनों को भी स्वीकार नहीं करता था। तू नहीं जानता जिन भक्तों ने पहले पहल प्रेम और भक्ति के इस तादात्म्य को देखकर जीवन को अमृत का दान दिया था, उन्हें कितने विरोध सहने पड़े थे ! किन्तु विरोधों की सत्ता सदैव युग बंधन में होती है। जब व्यक्ति लोक की मर्यादा को उदात्तरूप में देखता है तब वह क्षुद्रताओं से परे उठ जाता है। तू उठ सकेगा ?'

'मैं यत्न करूँगा देव ! नहीं जानता ऐसा किसी ने किया भी है, या नहीं ?'

'क्यों नहीं किया ?'

'किसने किया था देव !'

'विद्यापति ने !'

फिर विद्यापति !!

अभिनव जयदेव !

मेरे मन का कौतूहल जाग उठा।

मैंने कहा : 'गुरुदेव ! मुझे संबल चाहिये। महाकवि की

वृद्ध ने फिर कहा: 'तूने विवाह किया ?'

'नहीं देव !'

'तो तूने केवल परमात्मा से ही प्रेम किया !'

मैं सनझा नहीं

मैंने गर्व से कहा : 'हाँ गुरुदेव ! केवल परमात्मा से ही किया।'

'यही भूल की ।'

मैं आकाश से गिरा।

'तो फिर ?' मैंने पूछा ।

'कभी मनुष्य से भी किया ?'

मैंने सिर झुका लिया।

वृद्ध ने फिर कहा : 'वत्स !'

मैंने आंखें उठाईं ।

'पूछूं ?'

मैंने आंखों से इंगित किया : पूछें।

वृद्ध ने धीरे से कहा : नारायण तो व्यापक हैं, परे हैं, सबसे ही हैं न ?

'हैं तो गुरुदेव !'

'तो बता, फिर उन्हें ही नरतन में आकर क्रीड़ा करने की आवश्यकता क्या थी ? वे जो इतने रस का वर्षण कर गये हैं, आखिर क्यों ? क्यों उन्होंने दीनबंधु का रूप धारण करके लोक का उद्धार किया। वत्स ! एक बात पूछूं। तू तो बहुत पढ़ा लिखा है।'

'पूछें।'

'क्या कभी अवतार के रूप में भगवान केवल क्रीड़ा करने पृथ्वी पर आये हैं ?'

'नहीं गुरुदेव ! वे तो सदैव आनन्द के साथ परोपकार करने आये हैं।'

वृद्ध के मुख पर हास्य की ज्योति सी बिखर उठी। उसने कहा : 'फिर बता कि तुझे तृप्ति क्यों नहीं मिली ? मेरे मुरारी ने प्रेम किया था वत्स ! किंतु वह स्वार्थरत प्रेम नहीं था जो परिवार की स्त्रीचर्य्या में समाप्त हो जाये। वह तो ऐसा प्रेम था जो दांपत्य के बंधनों को भी स्वीकार नहीं करता था। तू नहीं जानता जिन भक्तों ने पहले पहल प्रेम और भक्ति के इस तादात्म्य को देखकर जीवन को अमृत का दान दिया था, उन्हें कितने विरोध सहने पड़े थे ! किन्तु विरोधों की सत्ता सदैव युग बंधन में होती है। जब व्यक्ति लोक की मर्यादा को उदात्तरूप में देखता है तब वह क्षुद्रताओं से परे उठ जाता है। तू उठ सकेगा ?'

'मैं यत्न करूँगा देव ! नहीं जानता ऐसा किसी ने किया भी है, या नहीं ?'

'क्यों नहीं किया ?'

'किसने किया था देव !'

'विद्यापति ने !'

फिर विद्यापति !!

अभिनव जयदेव !

मेरे मन का कौतूहल जाग उठा।

मैंने कहा : 'गुरुदेव ! मुझे संबल चाहिये। महाकवि

वाणी ने मेरी चेतना के विवरों में नाद का अमृत भरा है, मुझे और भी चाहिए। मुझे उसकी रस माधुरी और चाहिये।

मैं केवल इतने ही गीत जानता हूँ। यही मैंने सुने थे।'

'और शेष कहाँ हैं ?'

'मिथिला जाना होगा।'

'किस जगह ?'

'विसपी। जहाँ महाकवि का निवास-स्थान था।'

'मैं जाऊँगा गुरुदेव !'

'फिर जाओगे ? लौट कर ?

'हाँ गुरुदेव ! और यहीं लाऊँगा। वृन्दावन के कवि की गीतमालिका यहीं तो सुगन्धी देगी !'

'जानते हो फिर दिल्ली में आक्रांता आये हैं। मार्ग कितना कठिन है।'

'मुझे यहाँ कौन लाये थे गुरुदेव !'

'वासुदेव !'

'तो क्या वे ही लौटा नहीं लायेंगे ?'

'अवश्य लायेंगे, लायेंगे क्यों नहीं ?' वृद्ध ने यह कह कर अपनी आँखों के कोनों को पोंछ लिया।

वे चले गये।

मैं न जाने किस आनन्द में विभोर वैठा रहा।

और वहुत दिन वाद मैं अव कह सकता हूँ कि उस दिन मैंने जीवन में जितना गुरुत्व अनुभव किया था, उतना ही मुझमें एक हल्कापन भी आगया था। मैं मानों उस वादल के समान था जिसका रूप भीमाकार पर्वतों की भाँति होता है, किंतु

जिसको वायु उड़ाये लिये चलती है और वह कभी इसका विरोध नहीं करता, क्योंकि वह नीरधर होता है, नीर …जिसे कहते हैं…जीवन…प्राणद…अन्नद…

रात को मुझे बहुत गहरी नींद आई। सबेरे मैंने नींद के हल्के होने पर स्वप्न देखा।

मैं चला जा रहा हूँ
मेरी पीठ पर दो आँखें जमी हैं…
मैं मुड़ कर देखता हूँ…
इन आँखों में ममता है, आशिष है…
यह किसके नेत्र हैं…
और यह तो वैष्णववृद्ध है…
और सामने दो आँखें और हैं…
यह तो स्त्री की आँखें हैं…
यह किसके नयन हैं…
लखिमा के…
लखिमा के…
विद्यापति इसका उपास्य ही था न ?
फिर यह क्यों पुलक रहे हैं ?
मैं पूछता हूं…सुनो सुनो…
नेत्र अपलक हैं…
मुझे क्यों देखते हो…
तुम मेरे कवि को ढूंढने आरहे हो न ?
हाँ देवी…
मैंने यही कहा था…

क्या कहा था···

कवि अमर होगा···

अमर ! अमर क्या है ?

मनुष्य का प्रेम···

क्या यह सत्य है···

हाँ वह देह की नश्वरता से ऊँचा है···

ऊँचा···ऊँचा····

मैं ऊपर उठने लगा, तभी मुझे लगा मैं गिर जाऊँगा। आतंक से मैं चिल्ला उठा।

नींद टूट गई।

मैंने वृद्ध के चरणों में प्रणाम किया, फिर समस्त वृन्दावन की भूमि को प्रणाम किया, उसकी रज को माथे से लगाया और वृद्ध से कहा : गुरुदेव आज्ञा दें···

वृद्ध ने भर्राये स्वर से कहा: जनार्दन तेरी रक्षा करें।

वृद्ध की आंखों में पानी भर आया था। वे मुझे देखते रहे, देखते रहे···

और मैं चल पड़ा हूँ···नाव वह रही है····उसी यमुना में।

छूट गया है वृन्दावन····वे मंदिर···वे संध्याएँ···

मैं कहां जारहा हूँ ?

विसपी

देखा भी तो नहीं है ? कहाँ होगा वह ! कब तक चलना होगा ?

क्या मैं वहां पहुँच भी सकूँगा कभी ?

यह कैसा संशय है मुझमें ?

क्यों डरूँ मैं ? क्योंकि मेरे साथ कोई नहीं है ।
मन कहता है। गा ! गा ! तेरे साथ तेरा मुरारी है...
और मैं गाता हूँ !

नाव डोलाब अहीरे
जिबइत न पाओब तीरे

खर नीरे लो
मेरा गीत सुन कर माँझी भी मोटे स्वर से गाते हैं...
खर नीरे लो...
मैं फिर गाता हूँ....

खेबा न लेअए मोले
हँसि हँसि की दहु बोले

जिब डोले लो...
माँझी मोटे स्वर में दुहराते हैं—
जिव डोले लो...
जब तक यह स्वर यमुना के तीरों को छूकर मँझधार तक आता है, मैं गाने लगता हूँ —
किए बिके ऐलिहु आपे
बठेलिहु मोहि बड़ सापे
मोरे पापेलो...
माँझी भर्राये स्वर से गा उठते हैं...मोरे पापेलो....
अब की बार स्वर लंबा खिचता है...
मैं फिर छेड़ता हूँ—
माँझी फिर गाते हैं...
और यों ही हम गाते जाते हैं..यमुना गा रही है..गंगा

क्या कहा था···

कवि अमर होगा···

अमर ! अमर क्या है ?

मनुष्य का प्रेम···

क्या यह सत्य है···

हाँ वह देह की नश्वरता से ऊँचा है···

ऊँचा···ऊँचा····

मैं ऊपर उठने लगा, तभी मुझे लगा मैं गिर जाऊँगा। आतंक से मैं चिल्ला उठा।

नींद टूट गई।

मैंने वृद्ध के चरणों में प्रणाम किया, फिर समस्त वृन्दावन की भूमि को प्रणाम किया, उसकी रज को माथे से लगाया और वृद्ध से कहा : गुरुदेव आज्ञा दें···

वृद्ध ने भर्राये स्वर से कहा: जनार्दन तेरी रक्षा करें।

वृद्ध की आँखों में पानी भर आया था। वे मुझे देखते रहे, देखते रहे···

और मैं चल पड़ा हूँ···नाव वह रही है····उसी यमुना में।

छूट गया है वृन्दावन····वे मंदिर···वे संध्याएँ···

मैं कहाँ जारहा हूँ ?

विसपी

देखा भी तो नहीं है ? कहाँ होगा वह ! कब तक चलना होगा ?

क्या मैं वहाँ पहुँच भी सकूँगा कभी ?

यह कैसा संशय है मुझमें ?

क्यों डरूँ मैं ? क्योंकि मेरे साथ कोई नहीं है ।
मन कहता है। गा ! गा ! तेरे साथ तेरा मुरारी है···
और मैं गाता हूँ !

नाव डोलाव अहीरे
जिवइत न पाओव तीरे

खर नीरे लो
मेरा गीत सुन कर माँझी भी मोटे स्वर से गाते हैं···
खर नीरे लो···
मैं फिर गाता हूँ····

खेवा न लेअए मोले
हँसि हँसि की दहु बोले

जिव डोले लो···:
माँझी मोटे स्वर में दुहराते हैं—
जिव डोले लो···
जब तक यह स्वर यमुना के तीरों को छूकर मँझधार तक आता है, मैं गाने लगता हूँ —
किए बिके ऐलिहु आपे
बठेलिहु मोहि बड़ सापे
मोरे पापेलो···
माँझी भराये स्वर से गा उठते हैं····मोरे पापेलो····
अब की बार स्वर लंबा खिचता है···
मैं फिर छेड़ता हूँ—
माँझी फिर गाते हैं···
और यों ही हम गाते जाते हैं··यमुना गा रही है··गंगा

क्या कहा था…

कवि अमर होगा…

अमर ! अमर क्या है ?

मनुष्य का प्रेम…

क्या यह सत्य है…

हाँ वह देह की नश्वरता से ऊँचा है…

ऊँचा…ऊँचा…

मैं ऊपर उठने लगा, तभी मुझे लगा मैं गिर जाऊँगा। आतंक से मैं चिल्ला उठा।

नींद टूट गई।

मैंने वृद्ध के चरणों में प्रणाम किया, फिर समस्त वृन्दावन की भूमि को प्रणाम किया, उसकी रज को माथे से लगाया और वृद्ध से कहा : गुरुदेव आज्ञा दें…

वृद्ध ने भर्राये स्वर से कहा: जनार्दन तेरी रक्षा करें।

वृद्ध की आंखों में पानी भर आया था। वे मुझे देखते रहे, देखते रहे…

और मैं चल पड़ा हूँ…नाव वह रही है…उसी यमुना में।

छूट गया है वृन्दावन…वे मंदिर…वे संध्याएँ…

मैं कहाँ जारहा हूँ ?

विसपी

देखा भी तो नहीं है ? कहाँ होगा वह ! कब तक चलना होगा ?

क्या मैं वहाँ पहुँच भी सकूँगा कभी ?

यह कैसा संशय है मुझमें ?

क्यों डरूँ मैं ? क्योंकि मेरे साथ कोई नहीं है ।
मन कहता है। गा ! गा ! तेरे साथ तेरा मुरारी है···
और मैं गाता हूँ !

नाव डोलाब अहीरे
जिबइत न पाओब तीरे

खर नीरे लो
मेरा गीत सुन कर माँझी भी मोटे स्वर से गाते हैं···
खर नीरे लो···
मैं फिर गाता हूँ····

खेबा न लेअए मोले
हँसि हँसि की दहु बोले

जिब डोले लो···
माँझी मोटे स्वर में दुहराते हैं—
जिब डोले लो···

जब तक यह स्वर यमुना के तीरों को छूकर मँझधार तक आता है, मैं गाने लगता हूँ —

किए बिके ऐलिहु आपे
बठेलिहु मोंहि बड़ सापे
मोरे पापेलो···

माँझी भर्राये स्वर से गा उठते हैं····मोरे पापेलो····
अब की बार स्वर लंबा खिंचता है···
मैं फिर छेड़ता हूँ—
माँझी फिर गाते हैं···
और यों ही हम गाते जाते हैं··यमुना गा रही है··गंगा

क्या कहा था…

कवि अमर होगा…

अमर ! अमर क्या है ?

मनुष्य का प्रेम…

क्या यह सत्य है…

हाँ वह देह की नश्वरता से ऊँचा है…

ऊँचा…ऊँचा…

मैं ऊपर उठने लगा, तभी मुझे लगा मैं गिर जाऊँगा। आतंक से मैं चिल्ला उठा।

नींद टूट गई।

मैंने वृद्ध के चरणों में प्रणाम किया, फिर समस्त वृन्दावन की भूमि को प्रणाम किया, उसकी रज को माथे से लगाया और वृद्ध से कहा : गुरुदेव आज्ञा दें…

वृद्ध ने भर्राये स्वर से कहा: जनार्दन तेरी रक्षा करें।

वृद्ध की आँखों में पानी भर आया था। वे मुझे देखते रहे, देखते रहे…

और मैं चल पड़ा हूँ…नाव वह रही है…उसी यमुना में।

छूट गया है वृन्दावन…वे मंदिर…वे संध्याएँ…

मैं कहाँ जारहा हूँ ?

विसपी

देखा भी तो नहीं है ? कहाँ होगा वह ! कब तक चलना होगा ?

क्या मैं वहाँ पहुँच भी सकूँगा कभी ?

यह कैसा संशय है मुझमें ?

क्यों डरूँ मैं ? क्योंकि मेरे साथ कोई नहीं है ।
मन कहता है । गा ! गा ! तेरे साथ तेरा मुरारी है…
और मैं गाता हूँ !

नाव डोलाब अहीरे
जिबइत न पाओब तीरे

खर नीरे लो
मेरा गीत सुन कर माँझी भी मोटे स्वर से गाते हैं…
खर नीरे लो…
मैं फिर गाता हूँ….

खेबा न लेअए मोले
हँसि हँसि की दहु बोले

जिब डोले लो…:
माँझी मोटे स्वर में दुहराते हैं—
जिव डोले लो…

जब तक यह स्वर यमुना के तीरों को छूकर मँझधार तक आता है, मैं गाने लगता हूँ —

किए बिके ऐलिहु आपे
बठेलिहु मोहि बड़ सापे
मोरे पापेलो…

माँझी भर्राये स्वर से गा उठते हैं…मोरे पापेलो….
अब की बार स्वर लंबा खिचता है…
मैं फिर छेड़ता हूँ—
माँझी फिर गाते हैं…
और यों ही हम गाते जाते हैं··यमुना गा रही है··गंगा

गायेगी और जब फिर मैं बिसपी पहुँचूँगा तब··मेरा रोम रोम गायेगा··धरती गाएगी··भगवान मनुष्य बनकर गाने लगेगा·· जैसे चुंबक को लोहे के टुकड़े से रगड़ते रहने से अन्त में वह लोहे का टुकड़ा भी चुंबक बन जाता है··



गीत का अर्थः हे अहीर (कृष्ण) तू ही नाव को बहुत हिलाडुला रहा है, तभी तो नाव किनारे नहीं लगती । जल-धार कितनी प्रखर है ! तूने कोई नाव मोल तो नहीं लेली·· यह सुन दोनों हँस पड़े··जिय डोलने लगे··(राधा कहती है) मैं क्या तुम्हारे हाथ बिक गई हूँ···हाय मेरा शाप न लो तुम विधाता बड़ा दुख देता है·।

चुंबक की यात्रा

यही विद्यापति की जन्मभूमि है। यही मिथिला की गौरव भूमि है। मैं आ गया हूँ। कितना अज्ञात, फिर भी मन के कितने समीप ! कितना अनजाना ! फिर भी कितना परिचित। ठीक जैसे मुरारी। दूर, फिर भी मन में। अज्ञात ही होने पर भी मन का सबसे बड़ा संबल है।

जब मैं पहूंचा रात आने लगी थी।

मैं बढ़ाता जाता था।

एक ओर खेत लहलहा रहे थे। मैंने वहाँ कुछ कृषकों को देखा। जब मैं समीप गया वे श्रद्धा से नमित हुए।

'कहाँ जायेंगे ?'

मैंने कहा : विद्यापति के घर !

कुछ लोग हँसे।

एक वृद्ध ने कहा : वे तो गुजर गए, सौ वर्ष हुए।

सौ वर्ष !

'हाँ हाँ जानता हूँ।'

'ब्राह्मण हैं ?'

'हाँ।'

'तो ठहरें यहीं, रात हो गई है। विसपी अभी तीन कोस है। जाड़ा पड़ रहा है। कहाँ जायेंगे अभी ! फिर कहा—मंगल !'

'हाँ काका !'

'अरे देवता आये हैं। बाल्टी डोर ला । बाल्टी मांज ।' फिर मुझसे मुड़कर कहा: 'देवता ! कहाँ से आते हैं।'

'वृन्दावन से।'

'हाहा !!' हूह सी मच गई ।

'कृष्ण की भूमि से ! ब्रजभूमि से ! धन्याभाग ! दर्शन दिए।'

'कैसी होगी।'

'महाकवि ने तो उसी के लिए सब कुछ न्योछावर कर दिया ।'

मुझे लगा विद्यापति मरा नहीं था । वह जीवित था। वे मूर्ख हैं जो समझते हैं कि मनुष्य तभी तक जीवित रहता है जब तक उसकी देह रहती है । वास्तव में जीवित रहने वाले तो उसके सुकृत हैं, उसका नाम है। वही तो इस जगत् में जीवित रहता है क्योंकि वही मनुष्यों के हृदयों में बाद में भी उसके प्रति एक आदर की भावना को जाग्रत किया करता है।

मैंने शीतल जल से स्नान किया और तब खिचड़ी बना कर खाई और फिर मैं भी अलात्र के पास जा बैठा । लपटों का ताप मुझे बहुत अच्छा लगा।

एक बूढ़े किसान ने कहा : देवता! बिसपी कैसे जा रहे हैं?

मैंने कहा—मैं महाकवि विद्यापति की कविताएं लेने जा रहा हूँ। उन्हें लेकर फिर वृन्दावन जाऊंगा।

'बड़ा पुण्य है, बड़ा पुण्य है। कवि तो बड़े अच्छे हृदय के

आदमीं थे। बहुत बड़े आदमी थे, लेकिन राजा के साथ बैठने का तनिक भी गर्व नहीं था। वे तो हम लोगों से आकर मिलते थे। मेरे बाबा ने उन्हें देखा था। तब कवि बूढ़े हो गए थे। विद्यापति ठाकुर के पास गरीब अपनी विपदाएं जाकर सुनाते थे तो वे तुरन्त सहायता करते थे या राजा से कराते थे। उन दिनों मिथिला पर तुर्कों का राज्य नहीं था। हमारी मिथिला स्वतंत्र थी। चारों ओर मुसलसानी राज्य था, लेकिन हमारी मिथिला सबके बीच में अकेली थी।

फिर चर्चा चल पड़ी।

वे मुझे सुनाने लगे।

\+ \+ \+

एक रात। घना अंधेरा।

कवि घूमने निकले सो देर हो गई।

बादल से छा गए।

अनूभा थी एक, पड़ोस के गाँव की। कवि ने घोरघुप्प अंधेरा देखा तो जो गाँव में आश्रय लेने बढ़े तो उसी के द्वार पर जा पहुँचे। सुनते क्या हैं एक पुरुष बाहर अलिंद में खड़ा है और अनूभा कह रही थी : हे यात्री अब जाओगे ?

यात्री कह रहा था : क्यों क्या हुआ ?

'अरे', अनूभा ने कहा : 'यहाँ तो पड़ोसियों में तनिक भी प्रेम तक नही। मैं क्या करूँ, मेरे पति मुझे छोड़कर तभी परदेस चले गए, जब मैं छोटी ही थी। कई बरस हुए। वे होते तो तुम्हारा सत्कार करती। और मेरी सास है, उसे

रतौंधी आती है और बहरी भी है । है भी मेरे पति की सौतेली माँ ।'

यात्री सोचने लगा ।

अनूभा ने कहा : 'जागते रहना रातभर । यहाँ चोर बहुत हैं इस गाँव में । अँधेरी रात वैसे है । तुम बाहर पड़े हो ।'

यात्री ने कहा : 'तो क्या यहां कोतवाल नहीं ?'

'अरे कभी भूल कर भी तो रात को भ्रमण नहीं करता वह । कोई कुछ कहे, वह क्या कभी किसी की सुनता है ? राजा तक अपराधियों को दण्ड नहीं देता ।'

'लेकिन', यात्री ने कहा : 'मैं ठहरूँगा तो लोग कुछ...'

'कहेंगे क्या ? सब हमारी ही ज़ाति के तो हैं । कोई क्या कहेगा ? यात्री को आपत्ति में स्थान देना क्या अपराध है ?'

यात्री यह सुन कर घर के भीतर चला गया ।

कवि मन ही मन बहुत हँसे । चुपचाप लौट आये । मेला हुआ । कवि तो बड़े भारी रसिक थे ।

लोगों ने घेर लिया । नट और नटी तब अनेक मज़ाक कर रहे थे । लोग कहने लगे : 'ठाकुर दादा ! एक मज़ाक की होगी ।' बहुत बड़े आदमी थे, फिर भी सबसे निर्द्वन्द हृदय से मिलते थे । वहीं पास में घूंघट किये खड़ी थी एक स्त्री । वह अनूभा थी । मेले में आई थी ।

कवि ने कहा : तो हास विलास की होगी ?

हाँ ठाकुर दादा ! यहाँ तो बस !

तो सुनो—कह कर कवि ने सुनाई—

हे पथिक मै पूर्ण युवती हूँ और मेरा पति विदेश गया

हुआ है। यहाँ पड़ौस में प्रेम छू तक नहीं गया । मेरी सास विमाता. बहरी, रतौंधी वाली है, हे पथिक जागते रहो···❀

जब कविता समाप्त होगई, सब खूब हँसे।

कवि वहाँ से हट गये ।

आम की छाया में खड़े थे, कि एक स्त्री ने आकर पांव छुए । देखा कवि ने । अनूभा थी ।

भरे गले से स्त्री ने कहा: तुम्हें सरस्वती मिल गई है न ठाकुर दादा ? सब कुछ जानते हो न ?

कवि ने स्वर से पहँचाना । कहा: 'हाँ ' मन ही मन फिर हँसे ।

तब स्त्री ने कहा: 'तो कैसे कवि हो देवता ! मेरे पति को नहीं बुला सकते ? तुम तो जानते होगे वे कहाँ हैं ?'

❀ हम जुबती पति गेलाह विदेस
जग नहि बसए पड़ोसियाक लेस
सासु दोसरि किहुओ नहिं जान
आँखि रतौंधी सुनए नहिं कान
जागह पथिक जाह जनु भोर
राति अँधार गाम बड़ चोर
भारमहु भौरि न देअ कोतवार
काहु क केओ नहिं करए विचार
अधिप न कर अपराधहु साति
पुरुष महते सब हमर सजाति
विद्यापति कवि यह रस गाव
उकुतिहु अबला भाव जनाव···

शायद वह रो रही थी।

विद्यापति की आंखें वेदना से भर आईं।

कहा: रोती क्यों हो? वह भी आयेगा। एक दिन आयेगा।

'आयेगा?' स्त्री ने कहा 'आयेगा।'

वह चली गई।

दूसरे दिन गंगा के किनारे उसका शव मिला। कवि ने देखा तो बहुत ही व्याकुल हुए। उसके बाद उनकी आदत दूसरी होगई। जगनाथ मिश्र बड़े विद्वान थे बिसपी के। उनकी एक कन्या थी। लड़की कोई तेरह वर्ष की थी। लोभ के मारे मिश्र को ऐसे पिता का पुत्र मिला जो गांठ का पूरा बना हुआ था। मिश्र रुपया लेकर तैयार होगये उसके पुत्र को कन्या देने को। दूल्हा था पांच बरस का। और पता चला विद्यापति को। उन्होंने तलाश किया तो मालूम हुआ कि लड़के का बाप छलिया था, ऐसा धनी भी न था। जगनाथ के ऊंचे कुल से किसी प्रकार संबंध जोड़ कर ऊंची नाक चाहता था। जगनाथ दरिद्र थे तो भी पूर्वजों का नाम पुजता आरहा था।

कवि ने देखा, लड़की का जीवन बिगड़ेगा। एक दिन एक कविता लिख कर लड़कों को रटा दी। लड़के जाकर जगनाथ के घर के सामने गाने लगे—

मेरे पिया बालक हैं, मैं तरुणी हूं। जाने कौन चूक हो गई जो ऐसी मां के पेट से जनम लिया। सब सखियां दक्षिण देश के सुन्दर वस्त्र पहनती हैं, और मैं अपने पिया को देखती हूं तो मेरे रोमरोम में आग सुलग उठती है। हे सखी, मैं पिया

को गोदी में लेकर बाज़ार जाती हूँ तो हाट के लोग पूछते हैं कि यह तेरा कौन है ? मैं कहती हूँ कि न मेरा देवर है, न छोटा भाई, पूर्व-जन्म के पापों का फल मेरा बालम है। लोग गोदी में चढ़े मेरे पति को देख के पूछते हैं कि बच्चे ! तू क्या इस स्त्री का भाई है जो मायके से समाचार लेने आया है ? किसी का पिता धनी होता है, उसके पास अनेक गायें होती हैं, वह तो दूध पिला पिला के जमाई को झट से पुष्ट कर लेता है, परन्तु सखी ! मेरे पिता तो निर्धन हैं, न उनके पास टका है, न दूध देने वाली गायें हैं। मैं इस जमाई को कैसे जल्दी से तैयार करहूं। बिद्यापति कहता है सुन ब्रजनारी ! धीरजधर तो मुझे मुरारी अवश्य मिलेंगे।

कविता गाने की देर थी कि सब हँसने लगे। जगनाथ की स्त्री ने तो जगनाथ की आफ़त करदी। वह विवाह रूक गया।

××　　××　　××　　××

वे सब हँस पड़े।

'सच !' मैंने कहाः 'हमारे देश का बालविवाह है भी बहुत बुरा।'

फिर एक ने कहा, तब किसी और ने कुछ सुनाया और मैंने देखा कि सारी रात ही इस तरह बातों में बीत गई। इस सब में केवल महाकवि की दंत कथाएं ही थीं। उनकी कथाएं किस प्रकार आबाल वृद्ध में प्रचलित थीं, यह जानकर मेरे मन में हर्ष की हिलोरें उठने लगीं।

स्नान ध्यान करके मैं विसपी चल पड़ा।

यही है विद्यापति का अर्पित ग्राम।

जब मैं उनके भवन पहुंचा, विशाल अट्टालिका दिखाई दी। अब भी वहाँ वैभव था।

मुझे देखकर एक बालक खेलता हुआ आ गया।

मैंने कहा : सुनो भैया ! यहाँ आओ।

बालक अबोध सा हट गया।

एक व्यक्ति आया।

'कौन हैं आप ?'

'वृन्दावन से आया यात्री हूँ। तुम्हारे स्वामी से मिलना चाहता हूँ।'

शायद वह कारिन्दा था। भीतर लौट गया।

कुछ देर बाद एक और नौकर ने आकर कहा: चलिये। स्वामी बुलाते हैं।

मैं भीतर चला गया।

एक विशाल प्रकोष्ठ था। उसमें नीचे कालीन बिछा हुआ था। छत से काँच के कमल लटक रहे थे। प्रकोष्ठ बड़ा सुसज्जित था।

मुझे देखकर गृहस्वामी उठ आए। वे लगभग ४० वर्ष के थे। बोले: ब्राह्मण हैं ?

मैंने कहा : हाँ, ब्राह्मण ही हूँ।

'स्वागत है', कहकर उन्होंने पुकारा : 'जल लाओ।'

नौकर जल ले आए। मेरे पाँव धुलाने लगे वे। मैं संकोच से भर गया।

मैंने कहा : रहने दीजिये, रहने दीजिये,

उन्होंने कहा : सुदूर वृन्दावन की जो धूल आप अकस्मात्

ही इस घर में ले आए हैं उसे आपसे लिए बिना क्या छोड़ दूँगा !

वे मुस्करा दिए।

जब हम बैठ गये तब उन्होंने कहा—कहें देवता ! वैसे ही यात्रा में रुके, या कुछ उद्देश्य भी था ?

'आया था महाकवि की काव्य कृतियों की नकल उतार कर फिर माधव के धाम में ले जाने। आप उनके···

'प्रपौत्र हूँ। पन्द्रह वर्ष पूर्व ही पिता का देहान्त हुआ, तब से मैं ही यहाँ हूँ। वृन्दावन से आये हैं आप, इसलिए··· धन्य हो, धन्य हो···कैसे मनस्वी हैं, कैसे कैसे तपस्वी हैं··· धन्य हो····

'और महाकवि क्या दैवी चमत्कार की भाँति नहीं थे····

इसी समय वही बालक खेलता हुआ आया और गृहस्वामी के पास बैठ गया। गृहस्वामी ने कहा : यह बालक देखते हैं न ? स्वयं साक्षात् देवाधिदेव महादेव का वंशज है।

मैं चकित सा रह गया। मैंने इतना पढ़ा था किन्तु कभी कार्त्तिकेय और गणेश की वंशावली नहीं पढ़ी थी, और वह भी मुझे अकस्मात् ही मिथिला के विसपी ग्राम में ठेठ स्वर्गीय विद्यापति के गृह में मिलेगी, यह तो ऐसी बात थी जिसका मैं उस समय भी विश्वास नहीं कर सका। हम नित्य चमत्कारों की सुनते अवश्य हैं, किन्तु जब वह सामने आ जाता है तब पहले उसे तर्क की कसौटी पर कसने की चेष्टा करते हैं।

मैंने उनकी ओर आँखें उठाईं कि वे कहीं मुस्करा तो

नहीं रहे हैं, किन्तु शायद वे भाँप गये। बोले : शायद आपको विश्वास नहीं हुआ। तो सुनिए। महाकवि का एक सेवक था जिसका नाम उगना था। उसे कविपत्नी पसंद नहीं करतीं थीं क्योंकि वह बहुत ही भोला था। यद्यपि वह कार्यपटु था और स्वामी का अत्यन्त कृपापात्र था, किन्तु कविपत्नी को हो सकता है इसी से ईर्ष्या रही हो, वे उसे सदा ही डाँटा फटकारा करती थीं। एक दिन महाकवि कहीं गये थे, उस समय कविपत्नी ने रोष से उगना को भगा दिया। कवि जब लौटे तो बहुत ही व्यथित हुए, उन्होंने तब गीत लिखा था—हाय मेरा उगना कहाँ चला गया।

गृहस्वामी कुछ क्षण मेरी ओर देखते रहे और फिर उन्होंने कहा : वह उगना और कोई नहीं, महाकवि की भक्ति से प्रसन्न होकर नौकर के रूप में आकर भक्त की सेवा करने वाले औढर दानी देवाधिदेव महादेव ही थे।

मैं स्तंभित सा बैठा रहा। एक मन करता था कहदूँ असंभव, दूसरा मन याद करता था कवि की महानता को। अंत में यही स्वर आया—हो सकता है। इस लोक में अनेक आश्चर्य हैं। यह भी हो सकता है। बड़ों की बातें भी बड़ी ही होती हैं।

आँखें कुछ झुकसी गईं उनकी।

बोले : उगना नहीं मिला। कई वर्ष बीत गये। खोज जारी रही। अंत में मुझे पड़ोस के ग्राम में यह बालक मिला। यह उगना का ही वंशज है।

मैंने दीर्घ निश्वास लिया।

गृह-स्वामी ने कहा: देवता ! आपका आगमन शुभ है। रहिये और आपका कार्य सम्पन्न होगा।

इस प्रकार मैं वहीं रहने लगा और गृहस्वामी मुझे विद्यापति के जीवन की अनेक दंतकथाएँ सुनाते। एक दिन बोले: 'कितने गीतों की नकल करली आपने।'

मैंने कहा: 'हजार से भी ऊपर हो चुके हैं।'

'सौ बरस होगये न ? कुछ खो भी गये हैं।'

'अब नहीं खोने चाहियें, कैसा अपार लालित्य है !'

वे कुछ सोचने लगे, फिर बोले: 'सुल्तान का शासन है न ? अब तो अनेक बंधन हैं। पहले हमारा राजा था।'

फिर जाने क्यों वे चुप रह गये।

मैं सोचता रहा।

फिर बोले : 'अच्छा कल मैं भी आपके साथ पुस्तकालय चलूँगा और पुस्तकें देखूँगा।'

मैंने कहा : इससे बढ़कर क्या होगा ?

दूसरे दिन हम पुस्तकालय में गये। भूर्ज्जपत्र और तालपत्र पर लिखी कई पुस्तकें काठों के बीच में बँधी पड़ी थीं।

गृहस्वामी ने बैठते हुए कहा : विराजें।

मैं बैठ गया।

मैंने देखा चारों ओर पुस्तकें ही पुस्तकें भरी पड़ी थीं।

'हाँ' वे बोले–'यह हमारा कुल परंपरा से आता ग्रंथागार है। स्वयं कर्मादित्य ठाकुर बड़े पण्डित थे। उनके बाद आज मैं दसवीं पीढ़ी पर हूँ। निरंतर पुस्तकें भरती ही जाती हैं। फिर महाकवि को किस बात की कमी थी !'

मैने स्वीकार किया।

गृहस्वामी ने एक ग्रंथ की ओर इंगित करके कहा : 'यह देखिये, महामहोपाध्याय पक्षधर मिश्र का लिखा विष्णुपुराण है। लक्ष्मण संवत् ३५४ का लिखा हुआ है। यह महाकवि के सहपाठी थे। महामहोपाध्याय हरिमिश्र महाकवि के गुरु थे। पहले महाकवि दार्शनिक थे। जब उन्होंने अपनी शिक्षा समाप्त की तो वे अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर की सभा में जाने लगे। महाकवि ने लंबी आयु पाई थी। उनके समय में अनेक राजा बदल गये।

राजा गणेश्वर के उपरान्त कीर्त्तिसिंह राजा हुए। उनके समय में महाकवि अपने खेलन उपनाम से कविता लिखते थे। जिस समय राजा कीर्त्तिसिंह और उनके भ्राता वीरसिंह जौनपुर के सुल्तान इब्राहीमशाह से मिलने गये थे तब तरुण कवि भी साथ गये थे।'

यह कह कर गृहस्वामी उठे और भीतर चले गये और लौटे तो उनके हाथ में एक ताम्रपत्र था।

बोले: इसे पढ़कर देखिये।

मैंने लेकर प्रकाश की ओर मोड़कर पढ़ा। अन्त में मैं जोर से पढ़ गया :

श्री विद्यापतिशर्मणे सुकवये वाणी रसस्वादवि—
द्वौर श्री शिवसिंह देव नृपतिर्ग्राम ददे शासनम्।

गृहस्वामी ने मेरी ओर देखा। कितनी गौरव की भावना थी उन नयनों में।

मैने ताम्रपत्र दे दिया। वे हाथ में लिये बैठे बैठे कुछ

सोचने लगे। फिर बोले : राजा शिवसिंह के उपरान्त फिर कवि का मन काव्य में अधिक नहीं लगा।

फिर सहसा वे जाग उठे।

बोले : अरे ! मैंने पुस्तकें तो दिखाई ही नहीं। ये देखिये। आप तो समझते हैं कि महाकवि मैथिली के ही कवि थे। यही न ? यह देखिये इधर। यह भू-परिक्रमा है जिसमें बलराम के शापग्रस्त होने के बाद प्रायश्चित्त के लिये तीर्थों में जाने की कथा बहुत ही मनोहर ढंग से कही गई है। संस्कृत में है। यह सब मैं आपको उनकी संस्कृत की रचनाएँ ही दिखाऊँगा। और यह है पुरुष परीक्षा। राजा शिवसिंह के समय में लिखी गई। इसमें महमूद गजनवी से लेकर तत्कालीन घटनाएँ वर्णित हैं तथा पुरुषों के लक्षणों का भी उल्लेख है। यह लिखनावली है जो रजाबनौली के राजा पुरादित्य के लिये लिखी गई थी। इसमें पत्र लिखने की विधि इत्यादि हैं। तब के बहुत से राजाओं और गण्यमान्य लोगों के भी इसमें उल्लेख हैं। और यह शैव सर्वस्वस्तर राजा पद्मसिंह की रानी विश्वासदेवी के लिये लिखी गई थी। हरिद्वार से गंगासागर के समस्त तीर्थों के माहात्म्य को प्रकट करने वाली यह गंगा-वाक्यावली भी उसी रानी के लिये कवि ने लिखी थी। आपको संभवतः ज्ञात नहीं मैं आपको बतादूँ। महाकवि के आश्रय-दाता राजा शिवसिंह की मृत्यु के उपरान्त उनके कनिष्ट भ्राता पद्मसिंह का शासन स्थापित हुआ किंतु तब वे मुसलमानों के आक्रमण को नहीं रोक सके। विद्यापति को स्वयं मुसलमानों का बन्दी बन कर रहना पड़ा था। उन्होंने देश में आतंक

देखा था। कहते हैं फिर कवि ने शृंगारिक कविताएं अवश्य लिखीं किंतु उसमें उनका मन अधिक नहीं रमा।

राजा गणेश्वर के समय में वे बालक थे, कीर्त्तिसिंह के समय तरुण हुए। कीर्त्तिसिंह निःसंतान मरे। उनके उपरांत कुछ काल को राजा भवसिंह सिंहासन पर आये। उनके पुत्र देवसिंह जब सिंहासन पर आये तब शिवसिंह शासन संभालने लगे। महाकवि राजा शिवसिंह के समय में युवक थे। पद्मसिंह दिल्ली सुल्तान के आधीन थे। उनके कोई पुत्र नहीं हुआ। उनकी पत्नी रानी विश्वासदेवी ही ने राज्य संभाला। इसी समय म्लेच्छों से अपने धर्म की रक्षा में लगे कवि ने कई धार्मिक ग्रंथ लिखे। रानी के निस्संतान मरने पर मिथिला का राज्य मिथिला के नये राजवंश के संस्थापक कामेश्वर ठाकुर के द्वितीय पुत्र भवसिंह की तीसरी स्त्री के पुत्र हरिसिंह को मिला। हरिसिंह के उपरान्त दर्पनारायण नरसिंहदेव राजा हुए। उनके बाद धीरसिंह, फ़िर उनके बाद उनके छोटे भाई भैरवसिंह ने राज्य किया।

मैं उस समय गृहस्वामी की जीभ पर रखे वृत्तांत को सुनकर चकित होगया। और वे कहे जारहे थे: भैरवसिंह के दो पुत्र थे महाराज पुरुषोत्तम और रामभद्रसिंह गरुड़ नारायण। इन दोनों ने ही एक दूसरे के उपरान्त क्रम से राज्य किया। धीरसिंह के दो पुत्र थे राघवसिंह और जगन्नारायण सिंह। फिर इन्होंने राज्य किया। जगन्नारायणसिंह के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र रुद्रनारायणसिंह सिंहासन पर बैठे। इन्हीं के समय में महाकवि का देहान्त हुआ था।

गृहस्वामिनी ने थक कर एक साँस ली।

'कवि दीर्घायु थे।' मैंने कहा: 'बहुत संसार देखा उन्होंने !

'किन्तु,' गृहस्वामी ने गंभीरता से कहा : 'इतना लंबा ावन सदैव ही दुखदायी हो जाया करता है न ?'

मैंने कहा : निस्संदेह।

गृहस्वामी विचार-मग्न से कहते गये : कैसा वैभव था व ? अब क्या है। तब मिथिला के राजा विसपी आते थे ौर अब हमें कौन पूछता है !

फिर जैसे वे सहसा ही संभल गये, उन्होंने इधर उधर ेखा कि कहीं कोई सुन तो नहीं रहा था। एक सेवक तभी ाड़ का बड़ा पंखा झलने के लिये ले आया।

उसे देखकर गृहस्वामी ने कहा : क्यों रे लखना ? वह आगया वीरसिंह !

'हाँ प्रभु !'

'क्या कहा उन लोगों ने ?'

'वे कहते हैं कि हमें इसी धरती को जोतते तीन पीढ़ी होगई। हमें विद्यापति ठाकुर ने धरती दी थी। अब हमारे स्वामी हमसे क्यों छीनते हैं। हम क्या विसपी के नहीं, या उनकी प्रजा नहीं।'

गृहस्वामी ने कहा : 'अब ठीक हुए न ? किन्तु वे तो धमकी देते थे न कि हम मुसलमान हो जायंगे और देखें ठाकुर हमारा क्या करते हैं।' फिर वे मुड़कर मुझसे बोले : 'बौद्ध हैं बौद्ध। समझते हैं कि मुसलमान बन जाने से हमें डरा सकेंगे। हाँ, जगह जगह ऐसा होरहा है। ऐसे नये मुसलमानों

को दिल्ली के सुल्तानों से बड़ी रियायतें मिलती हैं। अब आप ही कहिये। बौद्ध हैं परन्तु वैसे जाति के तेली हैं। मैं पूछता हूँ तेली क्या बराबरी में बिठाया जा सकता है? वे तो कहते हैं कि हम नीच जाति बनकर क्यों रहें? हम तो मुसलमान होकर शासकों की जाति के हो जायेंगे। और जानते हैं आप? उनसे भी नीच जाति के चमार हैं। एक भी तो मुसलमान नहीं होता। इन्होंने तो साफ़ कह दिया कि मुसलमान क्यों हों? हमें तो हमारा भगवान प्यारा है। गौराङ्ग महाप्रभु के शिष्यों ने तो नीच जातियों को बड़ा भारी सहारा दिया है।'

मैंने कहा: 'मैं तो सब जगह घूमा हूँ। दक्षिण में, पश्चिम में, सब ही ओर से भक्ति का प्रवाह बहा आरहा है। मुझसे तो इस आर्यसंस्कृति को विनष्ट होते नहीं देखा जाता। हम क्या मुसलमानों को बुरा कहते हैं? किन्तु वे हमारे धर्म का नाश क्यों करते हैं?'

हठात् गृहस्वामी ने कहा: लखना! तेलियों को बौद्ध धर्म छोड़कर वैष्णव नहीं बनवा सकता? इनाम मिलेगा।

लखना ने हँसकर कहा: वे कब उधर जाना चाहते हैं स्वामी। सोचा था हम डर जायेंगे। इधर कुछ मुसलमान वह बंगीय बौद्धों का 'मुहम्मदपुराण' लेकर प्रचार कर रहे हैं कि मुहम्मद तो बोधिसत्व का अवतार है·········

वे दोनों हँसे। जब लखना चला गया, गृहस्वामी ने फिर सामने रखी किताबों को एक एक करके दिखाना प्रारंभ किया। उन्होंने अपने माथे पर आई बालों की लट हटाकर कहा: 'हाँ

तो, राजा नरसिंहदेव की आज्ञा से महाकवि ने विभागसार लिखा जिसमें संपत्ति के विभाजन और अधिकारों का वर्णन है। दानवाक्यावली में दान की व्याख्या है, विधि है। ये गयापत्तलक है, जिसमें गया श्राद्ध की विधि है। ये दुर्गाभक्ति तरँगिणी, शैवसर्वस्वसार प्रमाणभूत हैं। यह वर्ष कृत्य है जिसमें समस्त वर्ष के पर्वों का विधान है। और यह उनका पुराण संग्रह नामक ग्रथ है।

इससे तो मैं ऊब चुका था। गृहस्वामी बड़े मग्न थे, किन्तु मुझे न जाने क्यों इस सबमें दिलचस्पी नहीं आ रही थी। तभी उन्होंने कहा: और यह कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका उनकी अवहट्ट की पुस्तकें हैं। राजा कीर्त्तिसिंह के युद्ध विजय, राज्याभिषेक आदि अन्य घटनाओं का इनमें उल्लेख है।

यह तो मेरा विद्यापति नहीं था। मुझे तो वह विद्यापति चाहिए था जो कि इन युग बन्धनों के परे मानवमात्र की वस्तु हो चुका था। पाण्डित्य संसार में दुर्लभ नहीं, कवित्व दुर्लभ है। पनघट के पाषाण भी पनहारिनों की रस्सियों से घिस जाते हैं, फिर मनुष्य बुद्धि का क्या? यह विद्यापति तो एक ब्राह्मण-मात्र था, इसमें उसने संसार को नवीनता क्या दी? कुछ नहीं। मनुष्य की भाव सृष्टि में उसने और क्या जोड़ा? और गृहस्वामी इसी पर गर्व कर रहे हैं। ठीक ही तो है वे समझते हैं कि जो सँपत्ति वे भोग रहे हैं वह उसी पाण्डित्य का परिणाम है। किन्तु गृहस्वामी उस कला को नहीं देख पा रहे जिसके द्वारा विद्यापति ने केवल बिसपी ग्राम की संपत्ति ही अर्जित नहीं की जिसे गृह-

स्वामी खा रहे हैं, वरन ऐसी सार्वभौमिक संपत्ति कमाई जो जनमन के लिए सदा के लिए अक्षय आनन्द का स्रोत बन गई है। गधा भी जब बोझ ढोते ढोते आदी हो जाता है तब चुपचाप ही स्वामी का सामान गंतव्य पर पहुँचा देता है। ऐसा ही तो है यह पाण्डित्य। मैं वेदों का पण्डित, क्या हूँ ? अध्ययन विकास कर सकता है, किन्तु वह कभी भी मंजिल नहीं है। वह मनुष्य के बाह्य का आडम्बर रच सकता है, उसे सभ्य बना सकता है, किन्तु उसे सुसंस्कृत नहीं बना सकता। वह काम तो मानवीय संवेदनाओं के द्वारा ही पूर्ण होता है।

मैं तो कह पा चुका था, जिसके लिए मैं इतनी दूर से आया था। क्या है विद्यापति ? कुछ नहीं। उसके जीवन का ही क्या महत्व है ! इस आर्य देश में सदैव ही लोक-कल्याण की भावना में मग्न दार्शनिक और कवियों ने अनाम रह कर ही मानव को अक्षय संस्कृति दान की है, और वे कभी किसी ऐहिक सुख के लिए झुके नहीं, क्योंकि उनमें आत्मबल था, उन्होंने अपनी दैहिक सत्ता के बंधन को जितना जीता जा सकता था, जीत लिया था। मिथिला की सभा में न जाने कितने कवि थे, किन्तु वे उन्ही प्राचीरों में लुप्त हो गये। प्रतिभा कितने भी बन्धनों में क्यों न रहे, यदि वह सच्ची साधना की पुत्री है, तो पत्थर में से भी पानी निकाल लेती है, यश तब मिलता है जब उसके लिये जिया नहीं जाता। जब अपनी हीनता की भावना लुप्त हो जाती है और कर्त्तव्य-हीनता के स्थान पर ईर्ष्या का लोप करने वाली, स्पर्धा के

अहं को नष्ट करने वाली कर्म की चेतना जाग उठती है, तव व्यक्ति में समर्पण ही संतोष वन जाता है, उसे ही देखकर संसार अपना शीश झुकाता है । यश तो पाषाण की मूर्त्ति में से उजागर होता है, यदि कलाकार पत्थर को भी अपने मन की आकृति देने में सफल हो जाता है।

पता नहीं, कब तक मैं सोचता रहा, अन्त में गृहस्वामी ही मुझे ले आये । अनेक दिन फिर बीत गये । नित्य वे मुझे विद्यापति के सम्बन्ध की प्रचलित कथाएं सुनाया करते यहाँ तक कि फिर तो स्वयं उनकी कविताएं पढ़ते समय मुझे लगता मेरे सामने कवि ही मूर्त्तिमान रूप से उपस्थित हैं।

रात हो गई थी उस समय अंधेरी । मैं सो रहा था । दूर निर्जन में मैं न जाने कहाँ चला जा रहा था···सुदूर···

बियाबान···

अचानक मैं ठहर गया···

यह तो एक विशाल भवन था···

विसपी का भवन···

कितना नया था यह···

बाहर कितने सेवक इधर उधर घूम रहे थे···

कहीं वीणा की अस्फुट झंकार सुनाई दी···

मैं आगे वढ़ा···

चंपा की सी गंध हवा पर वही आ रही थी···

पेड़ों के घने पत्तों में से धूप छनछन कर आ रही थी···

कहीं कोई पक्षी वोला, अनाहत सा स्वर, दिव्य चेतना

का सा स्वर···

और मैंने देखा :

× × ×

वृद्ध कवि को खाँसी सी उठी ,

वह जाकर पलंग पर लेट गए ।

'हरिपति कहाँ है ?'

दुल्लहि निकट आई ।

'क्या है बावा !*'

'तेरा भाई कहाँ है ?'

'वे तो खेतों की ओर गये हैं ।'

'और तेरी माता कहाँ है ?'

'मन्दिर गई हैं ।'

वृद्ध चुप हो गया ।

आज वह सोच रहा था ।

नाना प्रकार के पाप करके जो संपत्ति बटोरी थी उस सबको तो कुटुम्बी और सगे सम्बन्धी मिल कर खा गये । वह अब कहाँ है ! वह वैभव ! वह राजसी मर्यादा । क्या लाभ हुआ उस सबसे ? अब तक का सारा प्रयत्न व्यर्थ ही तो गया ?

अन्त निकट आ रहा है । जिन परिजनों ने सम्पत्ति को उड़ाया वे आज कहाँ हैं ? कोई भी पास नहीं है ।

माधव ! हे माधव !

सचमुच आज मुझे विश्वास हो रहा है कि मृत्यु के

*मिथिला में पिता को बाबा कहते हैं ।

उपरांत जीव के सङ्ग केवल उसके कर्मफल ही जाते हैं और समस्त धन वैभव यहीं पड़ा रह जाता है।

कवि कहता है: बेटी ! दुल्लहि !

'हाँ बाबा।'

'आ बेटी। मेरे पास बैठ।'

बेटी बैठती हैं। वह विवाहित है। घर आई है।

पिता कहता है: 'याद है न बेटी !'

बेटी आँख उठाकर देखती है।

'इसी घर में कितना कोलाहल हुआ करता था ! कितने आनन्द ! कितने हास विलास ! वे सब कहाँ गये ? वे सब कहाँ लुप्त हो गये ?'

'काल खा गया ! उन्हें काल निगल गया !' वृद्ध फिर कहता है : 'काल किसी को नहीं छोड़ता।'

और तब वह कहता है : 'बेटी !'

'हाँ पिता !'

'यह संसार जानती है कैसा है ?'

'बाबा ! तुमने कहा था यह भवसागर है।'

'कहा था, तब अनुभव नहीं किया था बेटी। तूने सागर देखा है ?'

'देखा है बाबा, जगन्नाथपुरी में।'

'बस, बस। स्नान किया है उसमें ?

किया है !'

'जानती है सागर ! कैसे कैसे विकराल जन्तु होते हैं उसमें। वैसे ही तो यह संसार भी है। इसमें भी तो मनुष्य को

लोभ और काम के मगरमच्छ ग्रसते हैं। किन्तु मेरा तो सारा जीवन बिना माधव के चरणों की सेवा किये ही बीत गया। जीवन भर मैं तो रमणियों से क्रीड़ासक्त ही बना रहा। मुझे भजन का अवकाश ही कहाँ मिला। मैं कैसे यह भव-सागर तर सकूँगा ?'

वृद्ध ने करुण स्वर से कहा : मैं कैसा वज्र मूर्ख हूँ कि अमृत समान गोपाल के चरणों को छोड़कर कालकूट के समान भयंकर रमणी रूपी हलाहल को मन भर कर पिया है, तभी तो मेरा सारा ऐश्वर्य्य और गौरव नष्ट होगया है !

'मैं पापी हूँ, मैं पापी हूँ......'

वृद्ध रोने लगा।

'क्यों रोते हो बाबा ?'

'अपने पापों की याद करके रोता हूँ बेटी।'

'तुमने पाप कहाँ किया बाबा ? सारी मिथिला तो विद्यापति ठाकुर का नाम लेकर गर्व से सिर उठाती है। दिल्ली का सुल्तान ही देखो न ? उसका सेनापति तुम्हें पकड़ लेगया था, किंतु तुम्हारी सरस्वती के सामने उसकी एक न चली। जो मिथिला की प्रजा मिथिला के राजवंश की स्वतन्त्रता जाते हुए देख सकी, अपने विद्यापति ठाकुर के लिये तो वह पागल होगई। सुल्तान को तुम्हें छोड़ना पड़ा।' पुत्री का स्वर स्फीत था। वह कहे जारही थी : 'बाबा ! महामहोपाध्याय गणपति ठाकुर ही विष्णु ठाकुर कुल परंपरा में बढ़ते हुए गौरव के प्रतिनिधि थे, किन्तु तीसरी पीढ़ी में जो कर्मादित्य ठाकुर बिसपी में आकर बसे थे, उस बिसपी ग्राम का उपार्जन

करने वाले राजपण्डित महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर का यश तो दिगन्तों में फैल रहा है। फिर बाबा को इतनी वेदना क्यों हो रही है ?'

बाबा ने जैसे कुछ नहीं सुना।

पूछा: 'आज कौन दिन है ? पूर्णिमा में कितने दिन हैं ?'

'आज तो बाबा त्रयोदशी है।'

'तो फिर कार्त्तिक शुक्ला त्रयोदशी ही लगती है। आज ही इस दीर्घ जीवन का अंत आगया लगता है।'

फिर वृद्ध लेटा लेटा सोचने लगा, मानो वह अपने आपसे बातें कर रहा था। 'राजा शिवसिंह !'

'कौन ?' दुल्लहि चौंक पड़ी।

'कोई नहीं। राजा शिवसिंह रूपनारायण हैं।'

'कहाँ है बाबा !' दुल्लहि के स्वर में आतंक था।

वृद्ध ने मुस्करा कर कहा : 'तो तुम आगये मेरे वीरवर पराक्रमी रसिक शिरोमणि ! मित्र देखो न ! वह सब वैभव जो तुमने दिया था वह अब कहाँ है ?

'बाबा !' दुल्लहि चीख उठी, भयार्त्त स्वर से।

बाबा चौंक उठे।

'कौन ?'

'मुझे देखो मुझे !'

'दुल्लहि !'

'हाँ, ऐसे क्यों देखते हो ?'

कैसे बेटी !'

'कौन था।'

'वही, शिवसिंह राजा। आये थे। वैसे ही थे, जैसा रूप मैंने देखा था। पूछते थे : कब चलोगे कविराज ?'

दुल्लहि की आंखों में पानी आगया।

वृद्ध बड़बड़ाने लगा : महादेव ! मेरे ममत्व को भुलाओगे तो नहीं ? मैं अधम पापी और परम पतित हूँ। जगत में मेरा जैसा कोई नीच नहीं हो सकता। जब मैं यमपुरी पहुँचूँगा और यम मुझसे पूछेंगे तब मैं क्या उत्तर दूँगा उन्हें ? जब क्रुद्ध होकर यमराज मेरे प्राण लेने को दूतों को भेजेंगे तब मै कैसे अपनी रक्षा कर सकूँगा ?

मेरा नाम पुनीत है किन्तु आचरण तो अपवित्र हैं।

अत्यन्त याचना भरे स्वर से कवि ने कहा : देवाधिदेव ! मेरे विमुख तुम नहीं हो जाना। तुम ही तो अशरणशरण हो। हे शूलपाणि ! मुझ पर कृपा करो ! पुष्पों को चुन चुन कर, बेल पत्र चढ़ाकर हे महादेव ! मैंने तुम्हारी सदाही पूजा की है सदाशिव ! मैंने तुम्हारी तथा सप्त गौरियों की भली-प्रकार पूजा की है। किन्तु तुम तो अपने नंदी पर चढ़े सदैव ही श्मशानों में भ्रमण करते रहते हो, तुम्हें किसी की प्रार्थना सुनने का अवसर ही कहाँ है। भांग पीने के बाद भी क्या तुम में किसी का दुखदर्द समझने की सामर्थ्य बाकी रहती है। हे देवाधिदेव! न तो मैंने जपतप किया है, न मैंने दान-दक्षिणा ही दी है। तुम्हारी दुहाई देकर कहता हूँ कि मेरी आयु का तीन चौथाई भाग तो इसी प्रकार खाते और सोते हुए ही बीत गया है। अब मैं भवसागर से मुक्त होने की आशा भी करूँ तो कैसे ?

कवि क्षण भर चुप रहा। फिर कहा: 'बेटी !'

'हाँ बाबा !'

'तुझे कोई गीत याद है ?'

'बहुत से याद हैं।'

'नहीं वह याद है ?'

'कौनसा।'

'कब मेरे दुख हरोगे भोलानाथ···आज मैं सब भूलता जारहा हूँ···सुनना चाहता हूँ···

'गाती हूँ।'

दुल्लहि गाने लगी:

कखन हरब दुख मोर

हे भोलानाथ।

दुल्लहि का कोमल स्वर उठने लगा।

हे भोलानाथ ! हे भोलानाथ !!

मेरा दुख कब हरोगे !

सीधा ही तो प्रश्न था।

दुल्लहि गाती थी और उसे याद आरहा था, यह गीत सारी मिथिला गाती थी।

स्वर की लोच जागी। उसने गाया—

दुखहि जनम मेल, दुखहि गमाएब

सुख सपनेहु नहीं भेल,

हे भोलानाथ······

हे भोलानाथ······

दुख में ही जन्म हुआ, दुख में ही गँवा दिया, सुपने में भी

भवसागर को पार कर सकूँगा। हे भोलानाथ, मुझे अभय पद प्राप्त होने का वरदान दो।

गीत धीरे धीरे समाप्त होगया।

कवि की आँखें एक अपूर्व उद्वेग से भर गईं। उसने शून्य दृष्टि से देखते हुए कहा: 'यह झूँठ है, यह झूँठ है...'

'क्या झूँठ है बाबा......'

वृद्ध ने कहा: जो मैं जानता कि औढरदानी शंकर छलिया हो गये हैं तो मैं राम का गुलाम बन जाता। विभीषण ने कौन से महान तप किये थे। वह तो केवल राम का जाप करके ही पृथ्वी पर अपने जन्म-स्थान में ही अचल राज्य पद प्राप्त कर गया। और बीस भुजा, दश शीश वाले शिव के शिष्य रावण ने अपनी बीसों भुजा और दसों शीश अर्पण करके शिव की पूजा की। उसने तो ऊँच नीच का कोई विचार न करके अपने शीश ही भेंट कर दिये थे। जिसके एक लाख पुत्र और सवालाख नाती थे, जिसने सुवर्ण के अनेक दान दिये थे, उसका क्या अन्त हुआ? कौन नहीं जानता कि उसके घर में सर्वनाश हो गया। देवाधिदेव! क्या तुम मुझ पर दया नहीं करोगे?

बाहर पगचाप सुनाई दी।

'दुल्लहि! माँ आगई?'

'आगई लगती हैं।'

'उससे कहो वह स्नान करके आये। सचमुच यह संसार का समस्त भोग-विलास वृथा ज्ञात होता है। दुल्लहि! यदि किसी के माता-पिता अपने सुकर्मों से सद्गति प्राप्त करते हैं

तो उनके इस पुण्य कार्य से उनकी संतान को शांति प्राप्त होती है।'

दुल्लहि बाहर चली गई।

वृद्ध फिर सोचने लगा। लगा सुदूर कहीं बाँसरी बज रही थी। एक एककर असंख्य बार बिजली सी मस्तिष्क में कौंध गई। वह वैभव !

कौन शिवसिंह ! राजा शिवसिंह !

'पिता !' दुल्लहि दौड़कर आई।

'बाबा ! कहाँ ! उठरहे हो क्यों ?'

'माँ नहीं आई ?'

'नहीं आई हैं। आती होंगी।'

'तो वह किसकी पगचाप थी ?'

'पता नहीं बाबा। कोई सेवक होगा।'

'सेवक नहीं। वही था वह !'

कवि पलंग से उठ गया, उसके पाँव काँप रहे थे ······वह हिल रहा था······

'बाबा !' दुल्लहि चिल्ला उठी। उसने कवि को संभाला···

कवि बकता गया······

'वह राजा शिवसिंह ही था···' कवि ने कहा फिर वह जाने किससे कहने लगा: 'हाँ हाँ···मैं आरहा हूँ···

'बाबा······'

'हाँ हाँ राजा ! वह गीत···ह ह ह···बड़ी याद है अभी तक···लखिमा देह के पति हो न ? रसिकराज···वह देखो···

कवि ने द्वार पार कर लिया। उसकी दृष्टि अन्तराल में

जैसे कुछ देख रही थी····

'बाबा ! कहाँ जा रहे हो·····'

बाहर धूप थी ।

हठात् कवि रुक गया ।

उसने कहा : 'दुल्लहि·····'

'हाँ बाबा !'

'बुला तो, मेरे भोला को ।'

'भोला !' दुल्लहि का स्वर गूँज उठा ।

भोला भागता आया ।

विद्यापति ने कहा : 'जा तो पालकी ले आ···'

भोला फिर चला गया···

'कहाँ जायँगे बाबा···ऐसे में···आपकी तबियत अच्छी नहीं है·····'

वृद्ध ने मुस्कराकर कहा : 'अच्छा हो जाऊँगा बेटी···'

'नहीं पिता ! आज धूप भी तो कुछ तेज है····'

'काल-सूर्य का ताप भी तो उससे शीतल हो जाता है मेरी बच्ची···'

'किससे बाबा···'

'पतित-तारिणी····भागीरथी से ··'

पालकी आ गई । कवि पालकी में बैठ गया । दुल्लहि ने कहा : 'मैं भी चलूँगी ।'

'कहाँ चलेगी ममता !'

'तुम्हारे साथ !'

'कोई किसी के साथ नहीं जाता बेटी ।'

'तो भी मैं चलूँगी···'

कवि ने कहा : 'तो चल···'

आज कवि को याद नहीं था कि वेटी धूप में पथ पर कैसे चलेगी। वह तो ध्यान में लीन था।

पालकी चल पड़ी। कहारों के कंधे मचकने लगे····लड़की साथ भागने लगी····

पीछे से भोला चिल्लाया : विटिया हो विटिया···

किंतु कवि जैसे सव-कुछ भूल गया था।

उसने कहा : 'गाओ रे। भार हल्का करने को गाओगे नहीं ! गाओ ! आज ही तो गाने का दिन है···'

'वावा···' पीछे रह गई विटिया चिल्लाती है···कहार भाग रहे हैं, वह सुकुमारी कैसे साथ चले···

पीछे से भोला का स्वर आ रहा है····विटिया हो ऽऽऽ विटिया···

वावा···

विटिया हो····

और पालकी के झोंके खाते हुए कवि के वृद्ध मुख से स्वर निकलता है—

वड़ सुख सार पा ओल तुअ तीरे
छोड़इत निकट नयन वह नीरे···

कहार इस गीत को जानते हैं। महाकवि का यह गीत प्रसिद्ध है···

और भी लोग पथ पर सुनते हैं···

'कौन जा रहा है ?'

'विद्यापति ठाकुर।'

'कहाँ ?'

'गंगातीर पर।'

'क्यों नहीं ? ऐसे महात्मा भी नहीं जायेंगे !'

'धन्य जननी जिसने ऐसा जना।'

'धन्य स्त्री जिसका ऐसा सुहाग....

और भी बहुत सी बातें, परन्तु अब पथ के छोरों में गूंज रहा है—

कर जोरि विनमओं बिमल तरंगे
पुन दरसन हो ए पुनमति गंगे....

सो हे पुण्यतोया गंगे। देख अब फिर कवि आ रहा है.... फिर दर्शन करने आ रहा है...

अब पथ के लोग भी गा रहे हैं :

एक अपराध हेयब मोर जानी
परसल माय पाए तुअ पानी

हाँ, हाँ, कवि के अधरों पर मुस्कान है, उसका जल छूने तो दो...वह सारे अपराधों से क्षमा दिला देगी...वह तो सगर के ६०००० पुत्रों को स्वर्ग ले गई थी....

अब दूर गंगा की धारा दीख रही है। धूप में चाँदी की धारियाँ खिची हैं, चिलबिल, चिलबिल,...बह रही है धारा... अप्रतिहत आनन्द सी उन्मुक्त...वही शाँत गौरव-गर्भिणी मंथर गति...ऋषियों और अवतारों के पवित्र स्पर्श से और भी पुनीतकृता...

कवि देख रहा है...आँखों में चमक आ गई है...

अब पीछे से बिटिया हो बिटिया सुनाई नहीं देता···

अब बाबा हो बाबा भी सुनाई नहीं दे रहा···

कवि का मन अलस है, निर्द्वन्द्व है, परम शान्त है···

माता जान्हवी ! उद्धारिणी···सकल पाप विनाशिनी ! मैंने व्यर्थ जनम गँवाया, अरे तुझे तो देवाधिदेव भी अपने शीश पर धारण करते हैं···

माँ···

माँ····

अनन्त काल से भारत भूमि की तारिणी···मकरवाहिनि· मुझे भी तार दे··तू मेरी आत्मा को उस महान से मिला दे, जैसे तू स्वयं निरंतर महासिंधु में मिल जाती है····

अब नदी-तीर से स्वर आने लगा है··

कि करब जप-तप जोग धे आने

जनम कृतारथ एकहि सनाने··

'रोक दो पालकी !' कवि का स्वर सुनाई देता है।

पालकी रुक गई है।

कवि उतर रहा है। वह बड़बड़ा रहा है : सचमुच ! मैं क्यों भूल गया। जपतप योग और ध्यान क्या करेंगे ? एक ही स्नान में जन्म कृतार्थ हो जाता है··

कवि बढ़ रहा है····

अब चारों ओर से गीत उठ रहा है—

भनइ विद्यापति समदओं तोही

अन्त काल जनु विसरत मोही···

'हाँ, हाँ,' कवि कहता है···'वह अंतकाल तक मुझे नहीं

भूलेगी, वह मुझे नहीं भूली है···उसी ने मुझे स्वयं अपने पास बुलाया है···

कवि बढ़ रहा है···

जल काँप रहा है, उस पर सूर्य की किरणें पारे की सी चमक रही हैं···नयन झपक जाते हैं, फिर भी पानी काँपता रहता है···

कवि के मुख पर अतीन्द्रिय आनन्द है, नयन मुँद से गये हैं, उसके नेत्रों में एक अद्भुत तृप्ति दीख रही है, अनंतकाल की पाप की भावना में से निकली हुई कोई आत्मा जैसे एक तेजपुँज में समा जाने को बढ़ी जारही है···

सब स्थिर खड़े हैं, किसी में भी साहस नहीं है····

माँझियों के गीत की गूँज लहरों पर झूम कर आती हैं···

कवि बढ़ रहा है····

पीछे पुत्र हरिपति का शब्द वहुत दूर सुनाई देता है—बा····बा···

कवि नहीं सुनता···वह थक गया है, वह वालू में गिर गया है····बैठ गया है···सतृष्ण····दिव्य तृष्णा भरे नयनों से वह देख रहा है—माता जान्हवी को····

समेटलो···माँ···समेटलो···

कवि अब लेटकर खिसक रहा है···

बा···बा···हो···बा···बा···

माँ पतित-तारिणी ले चलो···ले चलो अब···

उधर, माँझियों का दूसरे किनारे की ओर नाव में जाते हुए गीत का हिंदोल एक दूर की प्रतिध्वनि बन कर आता है

कि करब जपतप धे आने...

जनम कृतारथ एकहि सनाने...

पता नहीं कब से यही विश्वास आया है और कब तक चलता जायेगा...

माँ...

लहरें गर्जन कर रही हैं...कितनी हँस रही हैं...

विद्यापति ठाकुर! विद्यापति ठाकुर! कई लोग चिल्लाते हैं, किन्तु अब लहरें शांत होगई हैं। केवल स्वर गूँज रहा है जनम कृतारथ एकहि सनाने...

अब सब कोलाहल बढ़ गया है...

बा...बा होऽऽऽऽबाबा....

वह आगया, वह हरिपति है....

बाबा चलेगये...

कहाँ...

गंगा आकर लेगई...

हरिपति सुन कर उद्वेग से चिल्लाता है: बाबा हो बाबा...

कुछ नहीं...केवल गंगा का कलकल निनाद, केवल अजस्र निर्घोष और कुछ नहीं...

बाबा होऽऽऽऽ बाऽऽऽऽ बाऽऽऽऽऽऽ

× × ×

जब मेरी नींद खुली, तब प्रभात की पहली आभा आकाश में झलमलाने लगी थी। उठकर बैठ गया।

उस झीने अंधेरे में मैंने किसी नारी के कोमल कंठ का गीत सुना...

विरह व्याकुल बकुल तरु तर
पेखल नंद कुमार रे
नील नीरज नयन सयँ सखि
ढरइ नीर अपार रे…

हा हा हा ! मेरा हृदय क्यों इतना व्याकुल हो गया ! क्यों, मुझे ऐसा क्या हुआ ? यह कैसी वेदना मेरे मन में इस तरह कसमसा रही है। वही वेदना। तब मृत्यु में, अब जीवन के स्नेह में। कितना मीठा स्वर। आत्मा की सन्धियों को आपूरित करने वाला।

मैने आज विरह से व्याकुल नन्दकुमार को मौलश्री के पेड़ के नीचे देखा !

देखा है न मौलश्री का वृक्ष। कितना सघन श्याम ! उसमें से तारकों से झर झर झरते कोमल चन्दन वर्णी फूल, जिनकी सुगंध से पवन की स्तब्धता भी लरजने लगती है, मानों वह एक वरदानों का स्रोत है जिसमें से अक्षय सुहाग बरसता रहता है। सघन पल्लवराशि कैसी मरकत और नीलम सी दिखाई देती है। उसका गहरा कत्थई तना कितना मोहक होता है। साँझ की छाया में कोई उसके नीचे बैठे तो पता चले कि जब फूल चुपचाप झरते हैं तब सृष्टि के कितने गोपनीय सौन्दर्य अपनी सारी मधुरिमा लिये हुए आकर वहाँ सिमट जाते हैं। झरते फूलों की सुरभि मन को कितना उन्मत्त कर देती है यदि कहीं अपनी प्यास अनबुझी रह गई हो ! वहीं हैं नन्दकुमार ! वे ही तो हैं जो व्रज के चितचोर हैं।

विरह व्याकुल वकुल तरु तर…

अरी सखी ! मैंने स्वयं देखा है ! झूंठ नहीं कहती ! नील कमल के से स्निग्ध कोमल लजीले लाल डोरियों वाले जो मोहक नयन हैं न उनके ? उनमें से अपार नीर ढर रहा था…

हाय हाय…छाती क्यों न फट गई…

मेरा यदुनन्दन रो रहा था…

क्यों नहीं रोयेगा वह ? ममता में स्थैर्य है, किन्तु प्रेम में तो आवेग भी है। ममता में त्याग की भावना भी है, किन्तु प्रेम में प्राप्ति की उमंग भी तो है । वह शिव हो, किन्तु सुन्दर तो दूसरी ही बात है । पहली दैहिक सुख के बाद की आत्मा की तृप्ति है, संबल का सन्तुलन है, दूसरी तो अल्हड़ चपलता है, देह की वासनाओं का उदात्तीकृत स्वरूप है जिसमें संबल नहीं, सहायता नहीं, समर्पण की विह्वलता है। ममता में तृप्ति है, प्रेम में कचोट। ममता में नयनों में शीतलता है, प्रेम में आंखों में आंसू। एक में दुलार की लालसा है, दूसरी में कसक की ईप्सा।

तभी स्वर आया….

पेखि मलयज पङ्क मृगमद

तामरस घनसार रे…

खींचती चली जा रही है यह पुकार मेरे रोम रोम को भरती भरती सी, ऐसा लगता है जैसे आकाश के समस्त नक्षत्र जो रात भर आलोक बनकर जगमगाते रहे हैं, अब प्रभात के भीने अन्धकार में सब रागों की अल्प द्रवता लेकर मेरे पिंड

ब्रह्माण्ड में लीन होते चले जा रहे हैं। उस स्वर को गाने वाली की विभोर तन्मयता की वेदना मेरी आत्मा की चेतना को किसी ऐसे अज्ञात सागर में डुबाए दे रही है जिसका अरूप गर्जन मेरी शिरा शिरा में एक स्फीत स्पंदन बन गया है, जिसकी प्रत्येक हिलोर मेरे हृदय को न जाने किन अज्ञात हर्षों की संवेदना में भिगोये दे रही है । सुन रहा हूँ मैं, सुन रहा हूँ मैं····कितनी करुणा है जो विसर्जन भी करती है किंतु मन के भीतरी स्तरों में एक अपूर्व सृष्टि का सर्जन भी करती जाती है···

स्वर आ रहा है—

निज पानि पल्लव मूँदि लोचन
घरनि पड़ अँसभार रे···

वही मादक स्फुरण, वही अतीन्द्रिय प्रेरणा, मानों बगरते बसंत अब हवा पर झकोरे लेने लगे हों जिसको सूँघ सूँघ कर कोकिलों के गलों की मिठास हर एक कण में विद्युत की भाँति झमकने लगी है···

हे सुन्दरी, तेरे तन पर धारण कराये जाने वाले अंगराग, कस्तूरी, कपूर···और कमल पुष्प आदिक वस्तुओं को निहार कर नन्दकुमार दोनों हाथों से अपने नेत्रों को मूंद कर व्याकुल होकर धरती पर गिर पड़े हैं····

आह ! कितनी गंधित लयात्मिकता है, वही अनवभूत मंद्र रागिणी···व्याकुलता की सृष्टियों के उन्मोचन····स्वरों में अतीत के चित्रों का पुनर्लेखन हो रहा है····

मैं सब कुछ भूलता जा रहा हूँ क्योंकि मेरा गोपाल दाह

से स्मरण के शूलों में कसक रहा है; मिठस की यह झलक कितनी व्याकुल कर देने वाली है····

स्वर में प्राणों की मरोड़ है···

जैसे पूर्णचन्द्र को देखकर समुद्र में ज्वार भाटा आरहा हो। मैं एक आक्षितिज शून्य में दिगंत-व्यापिनी श्री को अव व्याप्त होते हुए देख रहा हूँ···

जी करता हैं सुनता रहूँ···

सुनता रहूँ···

जीवन भी यदि एक नाद ही नहीं है तो इस जाल में फँसने की विवशता का आनंद ही क्या है···

मृत्यु की असह यातना में भी तो कितना संतोष है यदि वह ऐसी एक अमर तृप्ति ही हो···

और फिर स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है—

वहर मंद सुगंध सीतल

मंद मलय समीर रे···

लो सारे मधुवन में हिलोर सी पुलकंत होरही है। लताएँ चपल होकर झूम रही हैं। कितनी वासना है जो परागों के हिंदोलों पर चढ़कर झूल रहीं हैं···

अव तीव्र में ही स्वर की नियति तिरोहित होने लगी है····

सृष्टि के प्रथम प्रहर में मानों सारे विवर भर गये हैं, असंख्य प्रलयों का उन्माद अपनी चरम विनाशिनीसत्ता को प्राप्त करके अन्त में एक लयमात्र वन कर रह गया है···

मन्द सुगंधित शीतल मलयानिल वह रहा है···

मैं देख रहा हूँ फूल कितने चपल हो उठे हैं, स्निग्ध मांसल

दल कितने काँप रहे हैं, जैसे लजवन्ती के होंठ हों...

और तब स्वर सुनाई दे रहा है....

जनि प्रलय कालक प्रवल पावक
दहर सून सरीर रे...

किन्तु अभाव की दहक में वही पवन क्या प्रलय काल क प्रचण्ड वह्नि जैसा नहीं लगता ?

अब गायिका की व्यथा चपल हो उठती है—

अधिक वेपथ टूटि पड़ खिति
मृसन मुकुता मालरे
अनिल तरल तमाल तरुवर
मुंच सुमनस जालरे...

व्यथा की बेला क्या है ? धैर्य ही तो है। और जब वही भग्न हो जाये तो उसकी लहरों को कौन रोके ? मेरा मुरलीधर इतना व्याकुल हो उठा है कि गले की स्निग्ध मोती माला भी टूट कर पृथ्वी पर बिखर गई है ? देखो न, देखो न ! जैसे वायु से आन्दोलित तरल तमाल वृक्ष से झर झर कर फूल बिखर जाते हैं वैसे ही तो यह मुक्ता बिखर गये हैं ।

और यह मैं क्या सुन रहा हूँ—

मान मनि तजि सुदति चलु जहि
राए रसिक सुजान रे
सुखद सुति अति सरस दण्डक
कवि विद्यापति भानरे....

हे सुन्दरी अपना मान छोड़। ओ मधुर दण्डक छंद सी कर्ण-प्रिय वाणी बोलने वाली राधे ! हे रसिक सुजान !

अपना मान तज दे और माधव के पास चल....कवि विद्यापति कहता है...

गीत समाप्त होगया है।

मैं चौंक उठा।

मैं किन बंधनों में अपने को भूल गया हूँ ?

मेरा माधव तो बहुत दूर है !

मुझे तो वृन्दावन लौटना है।

यह मैं यहाँ आराम पाकर क्या भूल गया हूँ कि मुझे तो भक्ति की यह बहती गंगा ही असंख्यों धाराओं में बहाने के लिये चारों ओर छूटे हुए भगीरथों की भांति अपना जीवन समर्पित करना है।

उठ ! मेरे मन ! जाग !

चारों चरण पर स्थित धर्म के लिये गोपद कोई बंधन नहीं है।

अतलांत का आतंक उसे ही हो सकता है, जिसको अपने पांवों के नीचे की धरती का बोध नहीं हो।

तो चलूँ।

फिर....

वृन्दावन की ओर...

वहीं जहाँ मेरा माधव है

जहाँ मेरी राधा विरहिणी बैठी है...

कब से चले गये हैं उसके प्रियतम !

बताओ न महाकवि !

स्वयं प्रियतम तो दूर देश चले गये हैं और देगये हैं राधे

को भेंट में यौवन रूपी काँटा !

आषाढ़ मास में जब नवीन मेघ चारों ओर छाते हैं तब वह प्रियतम के विरह में निरवलंब रहती है। उसे तो वे जोगिन का वेष धारण करा गये !

श्रावण मास में घनघोर मेघों से मूसलाधार वर्षा होती है, निविड़ांधकार के कारण मार्ग भी दिखाई नहीं पड़ता, चारों ओर विद्युत कौंधती है, विरहिणी कामिनियों के जीवन कितने संकट में पड़ जाते हैं, उस समय तो वे मृत जैसी लगने लगती हैं !

हे सखी ! हे सखी ! सुनो न ? भादों आगया है। घनघोर घटाएँ अविरल सघन धारासार वर्षा कर रही हैं। चतुर्दिक मयूर और दादुर शब्द कर रहे हैं। पुण्यवती स्त्रियाँ ही तो ऐसे में अपने पतियों के साथ शयन करती हैं, कि जब कभी मेघगर्जन होता है, या विद्युत कौंधती है तब वे चमक-चमक कर प्रियतमों की गोद में छिप जाती है।

हे सखी ! आश्विन भी तो आपहुँचा। सरोवरों के तीरों पर चक्रवाक मिलकर कल्लोल करने लगे। परन्तु विरहिणियों का क्या हो ?

कार्तिक बीत भी चला। प्रतीक्षा के पल विरस होगये। दीपावली की छाया के सघन तिमिर ने ही तो दुखियारी अबलाओं को घेर लिया है !

अगहन आया कि सोकर जागना और जागकर सोना, हतभागिनी के भाग्य में अब भी यही दो काम रह गये ? कैसी भयानक अग्नि भीतर ही भीतर अब तो भस्म सी किये

दे रही है ?

पूस के छोटे दिन और ये लम्बी रातें ! प्रियतम का प्रवास ! कांति नष्ट होगई। हे भगवान ! किसी को भी पतिवियोग न हो जाये।

हाय। माघ में यह सघन पड़ता तुषार ! और भाग्य-शालिनी वालाएँ झिलमिल कंचुकी पहन कर पीन स्तनों पर मणिमयहार पहने पतियों के संग सोती हैं। यह सुख तो सच क्या स्वप्न सा नहीं है !

फाल्गुन आया ! होली आई, रङ्ग अबीरों की मस्ती झकोरे लेने लगी। कुसुम सौरभ से मत्तकोकिलों ने पँचमस्वर छेड़ा और विरहिणी की छाती दरक दरक गई।

प्रियतमा के यौवन के पूर्ण विकास का मास चैत आगया। भ्रमर फूलों पर गुँजार करते हुए मधुपान कर रहे हैं।

और जाने दो। किन्तु वैशाख तो भूने दे रहा है ! हाय ! पंचवाण ! ऐसे न वेध ! न स्नेह विंदु-वर्षा, यह स्नेह की छत्रछाया !

रंग उजड़ गये। ज्येष्ठ ने तो सब कुछ छीन लिया। अब तो पति के अतिरिक्त और कोई सहारा ही नहीं।

विद्यापति की मंगल कामना तो ले लो कि हे ईश्वर ! वालाओं की आशा पूर्ण कर !

×× ×× ××

धूप अब आम के ऊपर छागई थी।

मैं वाहर आगया।

गृहस्वामी उद्यान में टहल रहे थे।

मैंने कहा: अच्छा ठाकुर। मुझे आज्ञा दें। इतने दिन जो कष्ट दिया है, उसके लिये क्षमा करेंगे।

'इसमें क्या कष्ट है ? अभी रहें न ? जाकर भी क्या करेंगे ? सुना है प्रयाग के आस-पास मुसलमानों की बड़ी सरगर्मी है ! अभी सुना है कि मालवा के मुसलमान शासकों और मुगलों में युद्ध हो चुका है। भारतभूमि तो लुटेरों की हड्डी होगई। हुमायूँ का बेटा अकबर बड़ा प्रतापी है । जगह जगह विप्लव होरहे हैं। कौन जाने क्या होगा ? इधर सूरी भी बदला लेने की चिंता में हैं। ऐसे में आप कहाँ जायेंगे ? काज़ियों के बहकावे में आकर जगह जगह धर्मान्ध मुसलमानों के दल के दल लूटते फिर रहे हैं।

मैंने कहा: नहीं प्रभु ! मेरे तो जनार्दन रक्षक हैं 'यह सूरी, यह मुग़ल भी उन म्लेच्छों यवनों की भाँति हैं, जो कुछ दिनों के लिये पहले आये थे और आज उनका चिह्न भी नहीं है । भारतीय मनीषा इनके कुचले नहीं कुचली जासकेगी। बताइये न, चारसौ वर्षों से जो भीषण विध्वंस यह बर्बर तुरूष्क कर चुके हैं उससे क्या हम मर चुके हैं ?

'नहीं,' वे बोले 'हम फिर उठरहे हैं और तब तक उठते रहेंगे जब तक कल्कि के रूप में स्वयं नारायण ही आकर पृथ्वी का उद्धार नहीं करेंगे।'

मैं नमस्कार करके चल पड़ा। अब मुझे लगा मेरे पीछे गृहस्वामी की दो आँखें थीं, दूर कहीं वृद्ध वैष्णव मेरी आशा में आँखें लगाये बैठा होगा···

परन्तु और भी यह दो आँखें किसकी थीं···

वही लखिमा की...
वही जिसके कि महाकवि उपास्य थे...
दो आँखें...
उनमें पहले से कहीं अधिक तृप्ति थी...



यात्रा का गीत

चल पड़ा हूँ फिर एक बार ।

उसी ओर जहाँ कोटि कोटि जनों का मंगल तीर्थ है, जहाँ उस लीलाधर ने जन्म लिया था जिसे संसार में आते समय ही कारागरों में से निकल कर विद्रोह के लिये जीवित रहना पड़ा था, जिसकी क्रीड़ा के अंतरालों में ही दुष्टों और आततायियों का दमन होता रहा था···जिसने भारत को गीता का अक्षय उपदेश दिया था···

नाव चल पड़ी है, पटना से हम पश्चिम की ओर धारा काटते जारहे हैं···मैं त्रिवेणी पहुँचूँगा और फिर यमुना मार्ग से सीधे वृन्दावन चला जाऊँगा···सर्वेश्वर ने ही इस भारत की पुण्यभूमि को इस प्रकार बाँध दिया है !

नाव बही जारही है···वायु कितनी शीतल और कितनी मनोहारिणी है, पालों में हवाएँ भरे नावें बही जारही हैं···· मैं नाव में एक ओर टिका हुआ हूँ···मेरे साथ अनेक यात्री हैं···वे काशी और वृन्दावन जारहे हैं···उन्हें राज्यों की हलचल एक ऊपरी लहर की तरह मालूम पड़ती हैं। वे तो किसी शाश्वत सनातन में ऐसा विश्वास रखते हैं जैसे उससे ऊपर कुछ भी नहीं। मैं सोच रहा हूँ कि यह जो मानव का विश्वास है, वही क्या उसकी जीवंत शक्ति है, या उसका बंधन है ?

कृष्ण ने तो शस्त्र उठाकर आततायी का वध किया था । यह जो असंख्य असंख्य प्रजा है यह कैसे इतना अत्याचार सहे जारही है। संवाद आरहा है कि चारों ओर विप्लव होरहे हैं। कोई भी शक्तिशाली राजा नहीं रहा है । दिल्ली पर मुगलों का राज्य है और वे चारों ओर भयानक आक्रमण करके सब कुछ को निगल जाना चाहते हैं। हे मधुसूदन ! क्या यही वह पवित्र वसुधा है जिसके बारे में कहा जाता है कि समस्त धर्मों को जनमानस अत्यन्त सहिष्णु से आदर की भावना से देखता था। संघर्ष होते थे, किन्तु वे अपने को ऊपर उठाने के लिये, दूसरे को बल से नष्ट करने को नहीं। यदि ये बौद्धों की असहिष्णुता नहीं होती तो इस भारत में इतनी निर्बलता क्यों आती ? किन्तु ब्राह्मण धर्म में ही कितनी फूट है। प्रत्येक जाति अपनी अपनीं रक्षा में निहित है और आततायी खूब आराम से शासन करते हैं, एक असहिष्णु धर्म के नाम पर सारी प्रजा पर कर लगाये बैठे हैं। वे भी सत्ता के लिये अपने ही धर्म वालों से परस्पर लड़ते हैं…

और तभी धीरे से माँझियों में से एक ने गाना प्रारंभ किया। मैं सोचने लगा। इतने विध्वंस में भी इतने विलास में हीं इसे सांत्वना मिली है । मुझे लगा इसका भी एक कारण था। जितना हीं अत्याचार बढ़ता था, बाह्य जीवन अवरुद्ध होता जाता था, बंधन घोंटते थे, उतनी ही आनन्द और विलास की भावना विद्रोह करती थी क्योंकि उसी में उसे सन्तोप मिलता था।

इस गीत को सुनकर एक पगड़ी वाला यात्री अब घुटनों

पर कुहनियाँ टेके गालों को हथेलियों पर जमा कर अपनी मूँछों के नीचे मुस्करा रहा है। उसके माथे पर रामानन्दी तिलक है। उसके पास बैठी वृद्धा एक शून्यदृष्टि से नदी की विस्तृत धारा को देख रही है। कौन जाने वह क्या सोच रही है। शायद सोचती है कि इस धारा पर न जाने किस आदि-काल से कितनी नावें चल चुकी हैं और इसी प्रकार चलती रहेंगी····

माँझी गाता है—

चिकुर निकट तम-सम
पुनु आनन पुनिम ससी, ❀

सब उसे देखते हैं, सबके नयनों में आशा है, रूप का उल्लास उतरा आरहा है। प्रेम और स्नेह की धारा में अब रूप ही माध्यम बनकर नाव बनगया है, पार उतारने वाला, जितना ही आततायी का खड्ग उठता है, जितनी ही जीवन की यात्रा कठिन होती जाती है, जितनी ही वर्त्तमान की परिस्थिति दुख देती है, पारस्परिक संबंधों में जीविका के लिये संघर्ष और वैमनस्य जन्म लेता है, जितने ही समाज के, धर्म के बंधन कचोटते हैं, उतनी ही शक्ति से आबालवृद्ध, धनी-दरिद्र, ऊँचनीच में एक नयी चेतना जाग रही है, वह है समानता—परमात्मा के सामने समानता, जिस देवता से भय किया था अब मनुष्य उसके प्रेम का भूखा होगया है, अब मनुष्य के नयन निरंतर सौंदर्य के स्वप्न से भरे रहते हैं।

❀ केश समूह अंधकार की भाँति हैं, और मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति है।

मनुष्यों की लुटती हुई यह भीड़ें अपना शाश्वत मानदण्ड उन स्थायी मूल्यों में ढूँढ़ रही हैं जिनसे मानवता जीवित रही है और रहेगी...पता नहीं मैं ही ऐसा सोचता हूँ या और भी लोग ऐसा सोचते हैं...

वही स्वर—

चिकुर निकट तम-सम
पुनु आनन पुनिम-ससी
नयन पंकज के पतिआओत
एक ठाम रहु वसी...*

सब मुस्कराते हैं। लावण्य की अपनी प्रभा होती है और उसके आलोक में मनुष्य के न जाने कितने कोने उजागर हो जाते हैं...

ओ हो ! अब नदी में कैसी रोर उठी। सारे माँझी एक साथ गा उठे—

आज मोयँ देखलि वारा
लुबुध मानस, चालक नयन
कर की परकारा...+

इतनी विह्वल कर देने की शक्ति है रूप में। कान्ह माँझी के हाथ की माँसपेशियाँ फूल रही हैं, गिर रही हैं, नाव में एक

---

*नेत्र कमल के समान हैं। कौन विश्वास करेगा कि अंधेरा, चन्द्रमा और कमल एक ही स्थान पर इकट्ठे हो गये हैं...

+आज मैंने ऐसी बाला देखी। काम हिल उठा, मन लुब्ध होगया, अब मैं क्या करूँ ?

युवती ने मुख तिरछा करके लज्जा और गर्व से कनखियों से देखकर पाँव का नाखून देखा है, एक बालक ने वृद्धा के कंधे पर का वस्त्र हाथ की छोटी सी मुट्ठी में भर लिया है। स्वर बड़ा भारी है...अब आकाश में बादल दौड़ रहे हैं, श्वेत से, मैले से, कुछ नीले, कुछ ऊदे, कुछ श्याम... सफेद पक्षी उड़े जारहे हैं, पाँत की पाँत...तीर पर दूर किसान काम कर रहे हैं...उनके खेतों को आततायियों के घोड़े रौंद जाते हैं, फसलें सोजाती हैं, धरती से उगे कन फिर धरती में मिलकर मिट्टी होजाते हैं, श्रम व्यर्थ नहीं चला जाता, दारिद्रय की लात पेट पर मार कर मृत्यु के जाल में फेंक जाता है, किन्तु पीढ़ी नहीं मरती, फिर इधर मनुष्य उठते हैं, इधर फिर धरती में से कन निकलते हैं, उत्थान और पतन का एक निरंतर प्रयोग सा चल रहा है—जैसे बहुत दूर दूर तक घास है, काँस है, हवा आती है सब सोजाते हैं, हवा निकल जाती है सब उठ खड़े होते हैं, कभी कभी आग आती है तब यह काँस धू धूकर जलती चली जाती है, किन्तु फिर पानी पड़ता है और फिर नये काँस लहलहा उठते हैं, लुटेरे इन्हें काट काट कर अपने छप्पर सजाते हैं, फिर भी वे इन्हें खाकर समाप्त नहीं कर सकते, इनकी जड़ को नहीं काट सकते क्योंकि इनका धरती से संबंध है, और हाय कैसी दीनता है कि यह कटते रहते हैं ? क्यों नहीं यह उठ पड़ते ? उठेंगे। आत्मा का बल तो नहीं खोया है न ? वह बल कहाँ है ? वह अंतरात्मा में हैं, रूप और प्रेम में है। हममें शक्ति नहीं है, किन्तु हम शक्ति के स्वप्न के लिये जीवित रहते हैं, हम असंगठित हैं, परस्पर लड़ते हैं,

किंतु हम सदैव एकता और प्रेम के स्वप्न का दीपक हृदय में सँजोये रहते हैं···वह सब एक अयथार्थ है, यथार्थ है मनुष्य के ही सुनिश्चित उज्ज्वल भविष्य की कामना में जीवित रहना। हम कलियुग में फँस गये हैं, किंतु हमारी मनीषा अब पहले से कहीं अधिक बार ईश्वर को धरती पर लाती है, क्योंकि ईश्वर एक व्यक्ति से एक सृष्टि का संबंध है। वह हमारे प्रेम और आनन्द, सौंदर्य और वासना, हमारी शाश्वत रागात्मिकता का प्रतीक होगया है, वह अब हमारी ही शांति होगया है, इस स्वप्न को कौन सा बर्बर तोड़ सकेगा ? हर गुलाब को कुचल कर धरती में फेंकते समय याद रखो कि उसका शव धरती में अपने बीज जरूर छोड़ जाता है और वे अवश्य उगते हैं···

फिर संगीत माँभी अकेला गा रहा है—

सहज सुन्दर गोर कलेवर
पीन पयोधरसिरी,
कनक लता अति विपरित,
फरल जुगल गिरी····×

सारे माँभी गाते हैं—
फरल जुगल····फरल जुगल····
फरल जुगल गिरी···
ईऽऽऽऽऽ···

×सहज सुन्दर गोरे तन की बाला है, पयोधरों की श्री सघन है, मानों उल्टी कनक लता में दो पर्वत जैसे फल लगे हों।

ईऽऽऽऽऽ…
और तब…
सहज सुन्दर…
नया आवेश भर कर…
गोर कलेबर…
बड़ी रसपीनता आई है स्वर में…
पीन पयोधर सिरीऽऽऽऽऽ…
ओहो ! देखना कैसी लचक भर आई…
कनक लता….
और उसके साथ अब मुस्कान है…
अति विपरीत…
भारी स्वर, नयी स्फूर्ति…
फरल जुगल…
अभी बार और….
फरल जुगल….
अब अंतिम झटका और लय…
फरल जुगल गिरी…ऽऽऽऽऽऽ…

सब कुछ विचित्र हो गया है न ? उसे समझने के लिए कल्पना के पक्षियों को बहुत बड़े आकाश में उड़ना है, किन्तु वे पक्षी उड़ते हैं और फैल जाते हैं; उनकी समझ में आता है यह उनकी अपनी भाषा है, जीवित संस्कृति को जनमानस चाहिये, वह केवल पंडितों के घरों की वस्तु बन कर कब तक रह सकेगी…

अब फिर मेरा स्वप्न जाग उठा है।

× × ×

वीणा बज रही है। उसके धीमे धीमे स्वर तमालों के नीचे तिरोहित हो रहे हैं।

एक अपूर्व सुन्दरी चली आ रही है। उसे देखकर लगता है जैसे देह रूपी कनक लता के सहारे निष्कलंक चंद्रमा का उदय हुआ हो। उसके कपल के समान दोनों नेत्र तो अंजन-रंजित हैं और भौंहें बड़ी ही कुटिल तथा भावयुक्त हैं। उनकी चंचलता को देखकर लगता है जैसे विधाता ने चक्रवाक मिथुन को केवल अंजनगुन के पाश में बाँध रखा हो। उसके उत्तुंग कुचों को छूती हुई गजमुक्ताओं की माला गले में पड़ी है। ऐसा लगता है जैसे कामदेव कंठ रूपी शंख में भरकर गंगा की निर्मल धारा को सुवर्ण के शिवलिंगों पर ढाल रहा है।

एक व्यक्ति उपवन में मानसरोवर के विशाल पत्तों के पीछे खड़ा फव्वारे के पास से उसे देख रहा है। उसके नेत्र अपलक हो गये हैं।

तरुणी अब मल्लिका के समीप आ गई है। फिर बढ़कर वह उपवन के पक्के कुण्ड में खिले कमलों को देखती हुई बैठ गई है।

वह व्यक्ति देख रहा।

जहाँ जहाँ वह युवती पग रख कर आई है, अभी तक व्यक्ति को वहाँ कमल झरते हुए दिखाई दे रहे हैं। जहाँ जहाँ उसके अंग झलकते हैं, वहाँ वहाँ बिजली की तरंग दिखाई दे रही है। जिस ओर वह देख लेती है वहाँ कमल के फूल खिल

उठते हैं। जिधर वह मुस्कराती है, उधर ही अमृत की वर्षा हो उठती है, जिधर उसका कटाक्ष हो जाता है उस ओर कामदेव के पुष्पबाण पूरे वेग से चले जाते हैं।

युवक आगे बढ़ता है।

युवती चौंक उठती है।

युवक मुस्कराता है, युवती भी।

युवती प्रणाम करती है, युवक उसके हाथों को अपने हाथों में लेता है।

दोनों एक दूसरे की ओर देखते रहते हैं।

देर तक नयनों की तृप्ति अन्तस के द्वारों को खोलती चली जाती है। हठात् निस्तव्धता में कोई पक्षी मधुर स्वर से बोलता है। युवती चौंक उठती है।

बाहर कहीं तूर्यनिनाद होता है।

'महाराज', युवती कहती है–'मेरे महाराज।'

'मेरी लखिमा ! रानी !'

फिर दोनों एक परिरंभन में बँध जाते हैं।

एक मंदिम पगचाप सुनाई देती है।

दोनों अलग होते हैं।

'कौन ?'

'देवी ! कवि ठाकुर आये हैं।'

'कौन विद्यापति ठाकुर ?'

'हाँ देवी !'

'आज यहाँ क्यों ?'

'देवी ! मैंने कह दिया, किंतु वे नहीं सुनते।'

'तूने क्या कहा ?' महाराज पूछते हैं।

'मैंने कहा: कवि ठाकुर ! आप तो राजपण्डित ठहरे। फिर न जानेंगे कैसे ? महाराज आज कई दिन के वाद तो युद्ध से आये हैं, वे आज पूर्ण विश्राम करना चाहते हैं।'

'ऐसा कहा तूने ?'

'हाँ देव ! कवि ठाकुर ने कहा—तो पूछकर आ कि क्या तेरा कवि ठाकुर महाराज के पूर्णविश्राम में एक व्याघात तो नहीं है ?'

'तूने तव क्या कहा ?'

'पूछने आगई।'

महाराज सोचते हैं, फिर कहते हैं : 'कवि को बुला कर लेआ यहीं।'

'यहीं ?' महारानी कहती हैं। नयनों में कुछ विस्मय है।

'तुम उसे नहीं जानती देवी ! एकवार उसके कंठ-स्वर को सुनना तुम्हारे जीवन को सफल वना सकता है।'

'किंतु महाराज यहाँ ? अभी पूर्णिमा का चन्द्रमा उदित होने वाला है, चारों ओर आनन्द ही आनन्द छायेगा, ऐसे समय में अपने और आपके वीच में किसी को भी नहीं देख सकती। यदि आप उन्हें वुलायेंगे तो मैं समझूँगी आप मुझे नहीं चाहते।'

राजा देखता है।

रानी कहती है: 'मैं केवल देह ही तो नहीं हूँ। आत्मा भी तो हूँ। मेरी भी तो कुछ लालसाएँ हैं। इस वैभव में न होकर एक दरिद्र की स्त्री होती तो कम से कम मैं स्वतन्त्र तो होती।

यहाँ चारों ओर मेरी आत्मा घुटती है किसी से बात तक नहीं कर सकती !'

राजा सोचता है। वह इसे प्रेम करता है किन्तु नारी का अविश्वास भी विचित्र है । वैभव की भी अपनी मर्य्यादाएँ हैं। वह मर्य्यादाएं ही ऐसे बंधन हैं जो उस वैभव के द्वारा प्राप्त अधिकारों के फल हैं, वे अधिकार औरों के अधिकारों से कहीं अधिक हैं । कोई चाहे कि इधर वैभव के सुख भी लेलूँ उधर संसार के अन्य आनन्द भी लूट लूँ, यह कैसे संभव है। यह कहती है कि ये देह नहीं है, किन्तु यदि पुरुष नारी को उसके देहत्व का आभास न दिलाये, तो क्या वह सचमुच पुरुष के आत्मिक दुलार के बल पर जीवित रह सकती है ? यदि पुरुष केवल आत्मा का संबंध रखे तो वह फिर कहती है कि तुम मुझसे दूर दूर रहते हो। पता नहीं विधाता ने स्त्री को किस क्षण में बनाया था। सब कुछ छीन लेने वाला प्रेम क्या पुरुष को निरीह ही नहीं बना देता। राजा होने में, प्रजा का कार्य करने में समय जाता है । स्त्री कहती है कि पुरुष केवल आनन्द के समय में स्त्री की खोज करता है, अपने काम के समय वह उसे बिल्कुल भूल जाता है, जब कि स्त्री काम करते समय भी पुरुष का ध्यान रखती है । राजा नहीं सोच पाता। स्त्री सोचती है, सदा ही पुरुष के विषय में, सम्भव है। उसका केन्द्र भी तो परिवार ही है, पुरुष का केन्द्र परिवार नहीं, समाज है। पुरुष को कितने सुख दुख देखने पड़ते हैं तब किसी प्रकार वह जीवित रहने के संघर्ष में परिवार की नौका को खेकर निकालता है, स्त्री पुरुष के इन कार्य्यों को

नहीं देखती, वह अपने ही स्वार्थ में मग्न रहती है।

राजा को सोचते हुए देखकर कहती है : चलिये अब फिर वही दुख चिंता ! समझ में नहीं आता, आपको क्या हो जाता है ? कितनी आशा करती थी कि आयेंगे, तब हम आनन्द मनायेंगे, और यहाँ कोई हमारे बीच में आ ही जाता है। इससे तो अच्छा यही था कि मैं मर जाती !

राजा आँख उठाकर देखता है।

नारी ! और क्षुद्रत्व! और वह भी प्रेम के आवरण में।

दासी पूछती है : 'तो देव ! कह दूं वे चले जायें ?'

रानी कहती है : 'कहदे, फिर कभी आयें।'

राजा रोकता है : 'क्या कहती हो। वह विद्यापति ठाकुर है। कुल परंपरा से हमारे राज्य के विद्वान परिवार का अति-योग्य पंडित है।'

'हमारे यहाँ के परिडत तो राजाज्ञा से ही चलते हैं महाराज : रानी कहती है। राजा ही तो सर्वोच्च होता है। राज की बात आप मुझसे नहीं करते, । कि मैं स्त्री हूँ। फिर क्या रह गया देव ! और प्रेम भी आप तब ही करते हैं जब आपको राज से अवकाश मिलता है। मैं तो मानों कुछ हूँ ही नहीं !'

'तो फिर तुम चाहती क्या हो ?'

'वह तो शायद आप कभी समझेंगे ही नहीं। मेरी तो सारी आशाएँ ही चली गईं।'

पुरुष का मन कचोट खाता है। वह कहीं इस सबसे दूर हो जाना चाहता है। कहता है: 'वैभव चाहती हो, अधिकार

चाहती हो, वह सब लेकर वह सब देना नहीं चाहतीं, जिनसे वैभव और अधिकार मिलते हैं। लोकहित में जीवनदान देने वाले प्राणी की वैयक्तिकता कितनी सीमित हो जाती है यह तो जानती हो न ?'

क्या जानती हूँ, क्या नहीं, यह मेरा ही हृदय जानता है। आप तो मुझे अबोध और मूर्ख समझते हैं। फिर आप मुझसे बड़े हैं, योग्य हैं, तो कुछ सिखाते क्यों नहीं ?'

एक और दासी आकर कहती हैः 'विद्यापति ठाकुर चले गये हैं।'

राजा के नयनों में रोष झलकता है, किंतु वह उसे पी जाता है। उसे लगता है जैसे उसके और कला के बीच में नारी एक व्यवधान बन कर खड़ी होगई है।

राजा की चेतना में विष-सा भर गया है, जो उसे झुलसा रहा है। सामने चंद्रमा उग रहा है, किंतु उसमें कोई जादू नहीं है। और स्त्री खड़ी है अवरुद्ध सी, विधाता को शाप देती हुई सी। राजा बैठ जाता है। रानी पास आती है। दासियाँ चली गई हैं, एकांत है।

स्त्री रोती है

राजा नहीं समझता।

वह कारण जानना चाहता है।

वह देखता रहता है...

देखता रहता है...

मल्लिकाओं में से गंध आरही है...

कहीं मंदिर में घंटा-निनाद होरहा है...

नहीं देखती, वह अपने ही स्वार्थ में मग्न रहती है।

राजा को सोचते हुए देखकर कहती है : चलिये अब फिर वही दुख चिंता ! समझ में नहीं आता, आपको क्या हो जाता है ? कितनी आशा करती थी कि आयेंगे, तब हम आनन्द मनायेंगे, और यहाँ कोई हमारे बीच में आ ही जाता है। इससे तो अच्छा यही था कि मैं मर जाती !

राजा आँख उठाकर देखता है।

नारी ! और क्षुद्रत्व! और वह भी प्रेम के आवरण में।

दासी पूछती है : 'तो देव ! कह दूं वे चले जायें ?'

रानी कहती है : 'कहदे, फिर कभी आयें।'

राजा रोकता है : 'क्या कहती हो। वह विद्यापति ठाकुर है। कुल परंपरा से हमारे राज्य के विद्वान परिवार का अति योग्य पंडित है।'

'हमारे यहाँ के पण्डित तो राजाज्ञा से ही चलते महाराज : रानी कहती है। राजा ही तो सर्वोच्च होता है राज की बात आप मुझसे नहीं करते, । कि मैं स्त्री हूँ फिर क्या रह गया देव ! और प्रेम भी आप तब ही करते हैं जब आपको राज से अवकाश मिलता है। मैं तो मानों कुछ हूँ ही नहीं !'

'तो फिर तुम चाहती क्या हो ?'

'वह तो शायद आप कभी समझेंगे ही नहीं । मेरी तो सारी आशाएँ ही चली गईं।'

पुरुष का मन कचोट खाता है। वह कहीं इस सबसे दूर हो जाना चाहता है। कहता है: 'वैभव चाहती हो, अधिकार

चाहती हो, वह सब लेकर वह सब देना नहीं चाहतीं, जिनसे वैभव और अधिकार मिलते हैं। लोकहित में जीवनदान देने वाले प्राणी की वैयक्तिकता कितनी सीमित हो जाती है यह तो जानती हो न ?'

क्या जानती हूँ, क्या नहीं, यह मेरा ही हृदय जानता है। आप तो मुझे अबोध और मूर्ख समझते हैं। फिर आप मुझसे बड़े हैं, योग्य हैं, तो कुछ सिखाते क्यों नहीं ?'

एक और दासी आकर कहती हैः 'विद्यापति ठाकुर चले गये हैं।'

राजा के नयनों में रोष झलकता है, किंतु वह उसे पी जाता है। उसे लगता है जैसे उसके और कला के बीच में नारी एक व्यवधान बन कर खड़ी होगई है।

राजा की चेतना में विष-सा भर गया है, जो उसे झुलसा रहा है। सामने चंद्रमा उग रहा है, किंतु उसमें कोई जादू नहीं है। और स्त्री खड़ी है अवरुद्ध सी, विधाता को शाप देती हुई सी। राजा बैठ जाता है। रानी पास आती है। दासियाँ चली गई हैं, एकांत है।

स्त्री रोती है

राजा नहीं समझता।

वह कारण जानना चाहता है।

वह देखता रहता है...

देखता रहता है...

मल्लिकाओं में से गंध आरही है...

कहीं मंदिर में घंटा-निनाद होरहा है...

नहीं देखती, वह अपने ही स्वार्थ में मग्न रहती है।

राजा को सोचते हुए देखकर कहती है : चलिये अब फिर वही दुख चिंता ! समझ में नहीं आता, आपको क्या हो जाता है ? कितनी आशा करती थी कि आयेंगे, तब हम आनन्द मनायेंगे, और यहाँ कोई हमारे बीच में आ ही जाता है। इससे तो अच्छा यही था कि मैं मर जाती !

राजा आँख उठाकर देखता है।

नारी ! और क्षुद्रत्व! और वह भी प्रेम के आवरण में।

दासी पूछती है : 'तो देव ! कह दूं वे चले जायें ?'

रानी कहती है : 'कहदे, फिर कभी आयें।'

राजा रोकता है : 'क्या कहती हो। वह विद्यापति ठाकुर है। कुल परंपरा से हमारे राज्य के विद्वान परिवार का अति-योग्य पंडित है।'

'हमारे यहाँ के पण्डित तो राजाज्ञा से ही चलते हैं महाराज : रानी कहती है। राजा ही तो संर्वोच्च होता है। राज की बात आप मुझसे नहीं करते, र कि मैं स्त्री हूँ। फिर क्या रह गया देव ! और प्रेम भी आप तब ही करते हैं जब आपको राज से अवकाश मिलता है। मैं तो मानों कुछ हूँ ही नहीं !'

'तो फिर तुम चाहती क्या हो ?'

'वह तो शायद आप कभी समझेंगे ही नहीं। मेरी तो सारी आशाएँ ही चली गईं।'

पुरुष का मन कचोट खाता है। वह कहीं इस सबसे दूर हो जाना चाहता है। कहता है: 'वैभव चाहती हो, अधिकार

चाहती हो, वह सब लेकर वह सब देना नहीं चाहतीं, जिनसे वैभव और अधिकार मिलते हैं। लोकहित में जीवनदान देने वाले प्राणी की वैयक्तिकता कितनी सीमित हो जाती है यह तो जानती हो न ?'

क्या जानती हूँ, क्या नहीं, यह मेरा ही हृदय जानता है। आप तो मुझे अबोध और मूर्ख समझते हैं । फिर आप मुझसे बड़े हैं, योग्य हैं, तो कुछ सिखाते क्यों नहीं ?'

एक और दासी आकर कहती है: 'विद्यापति ठाकुर चले गये हैं।'

राजा के नयनों में रोष झलकता है, किंतु वह उसे पी जाता है। उसे लगता है जैसे उसके और कला के बीच में नारी एक व्यवधान बन कर खड़ी होगई है।

राजा की चेतना में विष-सा भर गया है, जो उसे झुलसा रहा है। सामने चंद्रमा उग रहा है, किंतु उसमें कोई जादू नहीं है। और स्त्री खड़ी है अवरुद्ध सी, विधाता को शाप देती हुई सी। राजा बैठ जाता है । रानी पास आती है। दासियाँ चली गई हैं, एकांत है ।

स्त्री रोती है

राजा नहीं समझता।

वह कारण जानना चाहता है।

वह देखता रहता है...

देखता रहता है...

मल्लिकाओं में से गंध आरही है...

कहीं मंदिर में घंटा-निनाद होरहा है...

जीवन एक बोझ सा है···

रानी अब रो चुकी है···

स्तब्ध बैठी है···

राजा उठ खड़ा होता है····

वह द्वार पर जा पहुँचता है···

रानी मूर्च्छित हो जाती है···

दासियाँ जागती हैं···

राजा चला गया है···

बाहर के विशाल प्रांगण में विदूषक खड़ा है।

पूछता है : महाराज ! आज दो दो चंद्रमाओं को छोड़ कर कहाँ जारहे हैं ?

महाराज का मन स्थिर नहीं है। भर्राये स्वर से कहता है : पिंगल ! जिस प्रकार दो दर्पण एक दूसरे से चिपका कर धर देने पर उनकी कोई भी पीठ बिंब ग्रहण नहीं करती उसी प्रकार मेरे मन में अंधकार छा रहा है

विदूषक कहता है : महाराज ! एक चाकू लेकर दोनों की बारी बारी से पीठ रगड़ना प्रारंभ करें न ?

'तो भी बिंब नहीं दीखेगा पिंगल ! केवल उनको आरपार ही तो किया जा सकता है···

विदूषक हतप्रभ होता है। कहता है: तो देव ! फिर एक ही को रगड़िये न ?

वह समझता है राजा हँसेगा। परंतु राजा बाहर की ओर बढ़ता जारहा है। उसने कहा है : तो फिर दो में से किसकी रगड़नी होगी !

विदूषक अपना उपहास खो चुका है ! राजा चला गया है। अब विदूषक को वामन और नपुंसक ने घेर लिया है और वे उसे छेड़ रहे हैं, किंतु ब्राह्मण विदूषक का वास्तविक रूप गंभीर है। वह उन्हें छोड़ कर राजा के पीछे चल पड़ता है।

बाहर पूछता है : 'महाराज कहाँ गये ?'

'कमल-तड़ाग की ओर।'

कमलों से तड़ाग भरा है। एक ओर के शान्त निर्मल जल में आकाश का पूरा चंद्रमा उतर आया है और राजा निर्निमेष दृष्टि से देखता हुआ बैठा है।

विदूषक समीप जाता है।

राजा नहीं देखता। वह विचार-मग्न है।

विदूषक कहता है : 'देव !'

'कौन ?'

'मैं हूँ, विदूषक !'

'बैठो।'

विदूषक बैठता है।

राजा नहीं बोलता।

विदूषक कहता है : 'महाराज ! आज विद्यापति ठाकुर आये और चले गये !'

राजा मुड़ता है। उसकी आँखों में एक विशाल शून्य है। नारी का कौन सा रूप है। राजा सोचता है। अच्छा होता मैं एक किसान होता। तब यही लखिमा मेरे हल जोतकर खेत में खड़े रहते समय सिर पर मट्ठा और रोटी लेकर आती। उस समय किसान अपनी भूख मिटाता और कार्यलीन रहता।

स्त्री अपने सामाजिक कार्य्य करती। स्त्री जब आनन्द में लीन रहती है तब उसकी क्षुद्र वासनाएं अधिक भड़क उठती हैं और कठोर जीवन से वह बचने का प्रयत्न करती है। उस समय उसके मन में हलाहल जन्म लेता है। उसे लगता है वह सब-कुछ खो रही है। पुरुष की वासना उतनी जघन्य नहीं होती जितनी स्त्री की। स्त्री अपनी वासना पर लज्जा का छद्म चढ़ाये रखती है और इसलिये वह बहुत ही भयानक होती है, क्योंकि पुरुष कैसा भी छलिया हो, उसकी वासना सरल होती है, नारी की वासना की भाँति गूढ़ और रहस्यमयी नहीं होती।

विदूषक देखता है। वह नहीं समझता। उसका कार्य हास-परिहास है, परन्तु वह एक अत्यन्त चतुर व्यक्ति है। उसे परिस्थिति को बनाते रहने का गुरुतर कार्य्य संभाले रहने पर ही प्रशंसा मिलती है।

और राजा को लगता है कि वह एक विशाल वन में फँस गया है। वह एक सुन्दर हरिण की आँखों पर मोहित होकर बाण धनुष पर चढ़ाये उसके पीछे भागा था। किन्तु वन के बीहड़ में उसने देखा कि वह जो दूर से हरिण लग रहा था वास्तव में एक इच्छारूप सिंहनी थी जिसके मुख पर अब एक विचित्र व्यंग्य-भरी मुस्कान थी।

राजा सिहर उठता है।

विदूषक देखता है। कहता है: 'महाराज!'

राजा चौंकता है।

देखता है।

फिर मानों पहचानता है।

और उसकी आँखों में प्रश्न झलकता है।

'देव ! कवि ठाकुर ने बुरा माना होगा न ?'

'हाँ।'

'फिर ?'

राजा कहता है : विदूषक ! तुम हास्य के सखा हो न ?

'हाँ महाराज !'

'किन्तु मूर्ख तो नहीं हो ?'

'देव ! सच कहूँ। मूर्खता का बाना धारण करने पर ही तो राजा-महाराजाओं से भी जो चाहे कह सकता हूँ। यदि मूर्ख न बनकर दार्शनिक का दिखावा किया होता और सम्मान की खोज की होती, तो क्या यह ग्रीवा कंधों पर दिखाई देती ?'

राजा सिर हिलाता है।

विदूषक फिर कहता है : 'मनोरंजन एक महान प्रेषणीयता रखता है। जो काम सहज हो सकते हैं वे तर्क से नहीं हो सकते, क्योंकि तर्क की नींव में सदैव अहं होता है और वह कभी सत्य को नहीं पकड़ता, वह तो एक कुठार की भाँति होता है।'

राजा सुनता है।

विदूषक गंभीर है।

राजा कहता है : 'और क्या यह सत्य नहीं है कि मनुष्य समुदाय में राजा होता है एक, क्योंकि धर्म उसे चाहता है।'

'हाँ देव !'

वह लोक का त्राता, एक पदाधिकारी-मात्र है न ?

'हाँ महादेव !'

'पृथ्वी कभी स्वामीहीन नहीं रह सकती। राजा का पुत्र कर्मभोग से राजा बनता है न ?'

'सब यही कहते हैं।'

'तो ठीक यही न प्रमाणित हुआ कि जिस प्रकार वैद्य का पुत्र वैद्य होता है उसी प्रकार....

विदूषक हँसता है।

'हँसते क्यों हो ?'

'सोचता हूँ, कोई नयी औषधि निकाली है !'

'अभी नहीं।' राजा कहता है—'सुनो तो। बताओ न ? और कवि का पुत्र कवि हो सकता है ?'

'नहीं।'

'कवि कैसे पैदा होता है ?'

'देव ! पूर्वजन्म के पुण्य से।'

'वे कौन से पुण्य हैं !'

विदूषक अवाक् देखता है।

'सुनो विदूषक।'

'महाराज !'

'जब से कवि ने देशी भाषा में कविता कहनी प्रारम्भ की है तब से तो एक अद्भुत माधुर्य आ गया है उसके काव्य में। तुमने सुना है ?'

विदूषक कहता है : 'क्यों नहीं देव ! उनकी कीर्त्तिलता मैंने पढ़ी है।'

'अरे वह किशोरावस्था की रचना थी। जब उसी ने

मिथिला को चमत्कृत कर दिया तब अब तो यौवन है कवि में। प्रगाढ़ मादकता है, अतीन्द्रिय सुख ! वह अवहट्ठ भाषा थी, अब तो वह लोकभाषा में ही कविता लिखने लगा है । सच विदूषक। मैं उसका मित्र होने में गर्व का अनुभव करता हूँ।'

'आप महाराज होकर ! उसके अन्नदाता होकर ?'

'हाँ विदूषक। अन्न तो भगवान देता है । यह देश तो ऋषियों की पवित्र भूमि है । यहाँ सदा से ही विद्वानों का समादर रहा है। जानते हो जब जब स्मरण करता हूँ कि आज से दो सौ वर्ष पूर्व उस बर्बर बख़्तियार ख़िलजी ने नालंदा के विशाल पुस्तकालय को जला दिया था, तब तब मेरा हृदय भीतर ही भीतर सुलग उठता है। मिथिला स्वतंत्र है। यहाँ तो कवि का पूर्ण आदर होना चाहिए। और कवि भी कैसा ? विद्यापति सा !'

राजा अपने आप बड़बड़ाने लगा—कैसा लिखा है, मुझे तो याद हो गया है—हे माधव ! जहाँ प्रेम रस होता है, वहीं प्रेम-कलह भी होता है, परन्तु गुणवान व्यक्ति एक बार प्रीति भँग हो जाने पर पुनः प्रीति करते हैं। हमने तो सर्वत्र ही ऐसी रीति होती सुनी है कि हार के बार बार टूट जाने पर भी उसे फिर गूँथ लिया जाता है।❀

❀जतहि-प्रेम रस ततहि दुरंत
पुन कर पलटि पिरित गुनमेत।
सबतहु सुनिये अइसन बेवहार
पुनु टूटए पुनु गाँथिऐ हार।

राजा के नयन कुछ विभोर से दिखाई देते हैं। वह कहता है : 'विदूषक !'

विदूषक शायद कुछ और सोच रहा है।

वह हठात चिहुँक कर कहता है : 'हाँ देव !'

राजा कहता है, मानों उसका ध्यान इस सब पर है ही नहीं :

भनइ विद्यापति न कर उदास
वड़क वचन करिए विसवास।

तुमने सुना। विद्यापति क्या कहता है। वड़ों के कहने का विश्वास करो। कितनी सरलता से वह कितने गूढ़ तथ्यों को यों ही कह जाता है ? और तुमने उसकी यह अत्यन्त सुन्दर रचना सुनी है ?

की हम साँझक एकसरि तारा
भादव चौठिक ससी
रथि दुहु माझ कओन मोर आनन
पे पहु हेरसिन हँसी !

आह रे। क्या मैं संध्या की अकेली तारिका हूँ कि जिसे कोई भी नहीं देखना चाहता, या मैं भाद्रपद की शुक्ला चतुर्थी का शशि हूँ जिसे देखने से ही कलंक लगता ? मेरा मुख इन दोनों में से किसका सा है कि तुम उसे हँसकर देखते तक नहीं।

विदूषक ! मैंने कहा : इससे आगे क्यों नहीं कहते कवि ! बोला : अभी स्फुरण नहीं हुआ महाराज ! मैंने कहा : होगा कविराज ! होगा !

विदूषक के नयनों में चिंता आती है और फिर एक उजाला सा क्षण भर चमकता है।

वह कहता है : 'महाराज !'

'क्या है ?'

'प्रासाद से कवि लौट गया है !'

'हाँ।'

'अब ?'

'ब्राह्मण ही बताये।'

'वह क्या स्वयं लौटेगा ?'

'नहीं देवता।'

'किंतु लक्ष्मी की सभा से सरस्वती का चला जाना क्या इस प्रकार हमारी राज्यश्री का अपमान नहीं है !'

'निश्चय है !'

'तो महाराज को जाना होगा।'

'कहाँ ?'

'विसपी।'

'किंतु विसपी भी राजा की है। कवि का सत्कार कहाँ हुआ ? कवि का अपना राज्य भी होना चाहिये न ?'

'देव ! मैं यही कहने वाला था।'

'तो फिर विसपी का दानपत्र तैयार कराओ। मैं ही उसकी सूचना लेकर जाऊँगा। विद्यापति ठाकुर चाहे जिस राज्य में भी चला जाये, सारे राजा उसके लिये द्वार खोल देंगे।'

'और अधिक इसलिये भी कि इसमें हमारा अपमान भी कर सकेंगे।'

राजा के मुख पर व्यंग्य दिखाई देता है । वह कहता : 'मेरे स्वतन्त्र राज्य का अपमान वे तुर्कों के दास करेंगे ? शिवसिंह रूपनारायण की भुजा जब खड्ग उठाती है···

'तब वे गीदड़ों की भाँति काँपने लगते हैं महाराज ! किंतु जब सूर्य चला जाता है तब गीदड़ कब हुँआ हुँआ नहीं करते ?'

राजा मुस्कराता है।

दोनों प्रसन्न होते हैं ।

'उठिये देव !' विदूषक कहता है–'जब हीरक जटित अंगूठी उंगली पर चढ़ जाती है तब लोक यही कहता है–हीरे वाली अंगूठी, देह वाली नहीं ।'

राजा प्रसन्न होकर उस पर गलहार फेंक देता है :

बिसपी के पथों पर रथ जारहे हैं । घोड़ों की अयालें हवा में फरफरा रही हैं । उनके शरीरों पर सुनहला साज है ।

लोग पथों के दोनों ओर खड़े चिल्ला रहे हैं:

'महाराज शिवसिंह की जय !'

'महाराज रूपनारायण की जय !'

एक भवन में उदास कवि विद्यापति बैठा है ।

एक युवती समीप खड़ी है । वह उसकी स्त्री है ।

पूछती है : 'कब तक बैठे रहोगे ?'

कवि कुछ नहीं कहता ।

'राजा राजा ही होता है ।'

कवि सुनता है ।

'तुम केवल कवि ही हो न ?'

कवि देखता है।

'कवि राजा का आश्रित होता है।'

कवि चुप है।

'भट्टि, दण्डि, कालिदास, बाण, चंदवरदायी......

कवि नहीं सुनना चाहता।

वह कहे जाती है—'सब ही अपने अपने आश्रयदाताओं की प्रसन्नता देख कर चलते थे। तुम्हें विधाता ने गुण दिया हैं। उसका अनुचित अभिमान न करो। घड़े में रखे दीपक की ज्योति बाहर नहीं फैलती। मैंने तो न जाने क्या क्या आशा की थी कि लोग विद्यापति का नाम सुनकर सिर झुकाते होंगे। अपार वैभव होगा। विद्यापति ठाकुर बड़े सरल होंगे।

'मैं सरल नहीं हूँ?'

'मैंने कब कहा!'

'तो फिर तुम कहना क्या चाहती थीं?'

'तुम कभी नहीं समझोगे।'

'तुम्हें किसी का कष्ट है?'

स्त्री कहती है: 'तुम क्या मुझे धन की प्यासी समझते हो?'

'फिर तुम्हारे कहने का मतलब ही क्या है?'

'तुम तो मुझे मूर्ख समझते हो, जैसे मैं किसी भी उत्तर-दायित्व को उठाने के योग्य ही नहीं।'

'कौन सा उत्तरदायित्व उठाना चाहती हो?'

'मैं तो कुछ भी नहीं चाहती। अब से तो मैं बोलूँगी ही नहीं कुछ।'

कवि नहीं समझ पाता।

स्त्री कहती है : 'मैं कहती हूँ, तुम्हारे पास खाने को नहीं है क्या ? राजा के पास जाने की आवश्यकता ही क्या है ? अरे जो है उसी में गरीबी में दिन काट लेंगे।'

गरीबी। कवि सोचता है। घर में दास हैं, दासियां है। फिर भी गरीबी ! खेत हैं, सब कुछ है। कैसी है यह स्त्री ! वह फिर कहती है : सोचती थी आभूषणों से लदी रहूँगी, पर नहीं हैं तो मैं क्या माँगती हूँ। ऐसे ही अच्छे हैं हम ! हैं न ?

कवि का मन विक्षुब्ध हो रहा है।

स्त्री फिर कहती है : 'पहले तुम संस्कृत के ग्रंथ लिखते थे, सम्मान था। अब क्या देशी भाषा के गीत लिखने लगे हो। जिनके लिए लिखते हो वे क्या कुछ समझते हैं ?'

'तो क्या तुम मुझे चाहती हो कि मैं परिपाटियों में ही पड़ा रहूँ ? तुम मुझे-काव्य क्षेत्र में भी सलाह दोगी ?'

'मैं क्यों दूँगी ? मैं क्या पढ़ी थोड़े ही हूँ। मैं जानती हूँ तुम मन ही मन मुझसे इसलिए घृणा करते हो। तुम्हें तो किसी पंडिता से विवाह करना चाहिये था, जो तुम्हारे कार्य में तुम्हारी सहायता भी करती। मेरा क्या है। दासी हूँ। ड़ी रहूँगी। तुम्हें चिंता करने की आवश्यकता भी नहीं ड़ेगी। मुझे कुछ ज़रूरत होगी तो मै तो माँ के घर से मंगा ँगी। आखिर तो उसने मुझे जनम दिया है !

कवि के पास इन तर्कों का उत्तर नहीं है। वह नहीं नता इस बवंडर के मूल में क्या है ? महत्वाकांक्षा ? यश

और सम्मान की भूख, या वैभव की लालसा ! फिर साथ ही त्याग की भावना का छल क्यों ?

वह चुप बैठा रहता है।

स्त्री कहती है : 'मैं कहती हूँ, मुझे क्षमा करदो ? तुम्हारे सिवाय मेरा है ही कौन ? स्त्री हूँ, अबला हूँ। तुम जैसे कहोगे वैसे ही चलूँगी। मेरी उपेक्षा न करो। सब-कुछ सह सकती है किन्तु यह उपेक्षा नहीं। अपमान मुझे बुरा नहीं लगता, वह तुम कर सकते हो, परन्तु मुझसे घृणा मत करो।'

कवि का संसार लुप्त हो गया है।

'मैं लिखना चाहता था' कवि कहता है ।

'तो लिखो न ?'

'अब नहीं लिख सकता।'

'क्यों ?'

कवि नहीं बोलता। स्त्री कहती है : 'कहते क्यों नही, मैं तुम्हारे काम में एक बाधा बन गई हूँ । हैं न यही बात ? हाय रे मेरे भाग्य ! किसी साधारण पुरुष से विवाह होता तो अपनी छोटी सी गिरस्ती में स्वामिनी तो होती ? यहाँ तो सब कुछ होने पर भी कुछ नहीं हैं ! जो कुछ सुख था, वह तो बचपन में ही भोग लिया। अब क्या रखा है !'

'तो अब क्या तुम्हें कुछ दुख है !'

'जाने दो, अब तो इस बात को यहीं समाप्त करदो।'

'तुम्हीं ने तो कहा था कि तुम्हारी आशाएँ नष्ट हो गई हैं...

'छोड़ो न ? उसके लिए मैं तुमसे क्षमा माँग तो चुकी हूँ।

तनिक भी मजाक तो तुम समझते ही नहीं। न जाने मुझे कितनी बार रुलाना तुम्हें अच्छा लगता है, मुझे लगता है मैं तो पागल हो जाऊँगी…

स्त्री रोने लगती है।

पराजित सा कवि उठता हैं। वह बाहर आता हैं। द्वार पर कोलाहल हो रहा हैं।

'महाराज शिवसिंह की जय !'

'महाराज रूपनारायण की जय !

'महाराज शिवसिंह रूपनारायण की जय !'

कवि देखता रह जाता हैं।

हाँ सामने महाराज ही हैं।

'स्वागत महाराज !'

'प्रणाम ब्राह्मण,' महाराज कहते हैं।

'सुदामा के घर ? आज स्वयं महाराज कृष्ण।'

विदूषक कहता है : कलियुग का फेर है न कवि ! कब तक मुरारी बैठे रहते कि सुदामा आये, आये। और जब नहीं ही आया तो क्या करते ?

कवि अवाक् हैं। पलकें भींग जाना चाहती हैं।

विदूपक ताम्रपत्र पढ़ कर दे रहा हैं।

गाँव के भद्र और साधारण पुरुष जयजयकार करते हैं :

महाराज शिवसिंह रूपनारायण की जय !

विद्यापति ठाकुर की जय।

जय ! जय !

धूलि ! धूलि से भी ऊपर जय !

धूलि ! धूलि के अंतराल में लय !
धूलि ! धूलि के नीचे स्नेह का अपराजित संचय !

गांव के लोग प्रसन्न ! अकारण ही प्रसन्न । ग्राम विद्यापति को मिला हैं । किन्तु वे अत्यधिक गद्गद् ! क्योंकि अब विद्यापति बहुत बड़ा आदमी है । बड़ा आदमी देता कुछ नहीं, फिर भी लोक रहता हैं विनीत और मगन । केवल दो चार ईर्ष्यालु हैं । एक फुसफुसाता हैं : 'कोई गड़बड़ ज़रूर होगी ।' 'अरे भैय्या ! कोई यों घर आकर नहीं दे जाता !' 'और फिर क्या विद्यासति ठाकुर में गणपति ठाकुर की सी मेधा है !' 'वे तो और ही बात थे ।' 'पर राजा भी तो असली गुणीं थे ।' 'शिवसिंह का क्या ?' 'नाम करना चाहते हैं अपना ।' 'राजा भोज कहलाना चाहते हैं ! वाह वाह ! जैसे कि नये भोज ! तैसे ही नये कालिदास !' फिर एक हास्य, बड़ा धीमा, किन्तु बड़ा विषैला ।

उधर राजा कहता है : 'कवि !'

'महाराज ! पधारें ।'

वे भीतर जाते हैं । साथ में विदूषक भी ।

'कवि !' महाराज आसन पर बैठ कर कहते हैं—'मेरी मिथिला सूनी हो गई है ।'

मिथिला का इन सबको बड़ा अभिमान है । यह सीता की जन्म-भूमि है । यह जनक की शासन-भूमि है, उस जनक की जो विदेह कहलाता था । यह याज्ञवल्क्य की भूमि है, जिस पर एक समय ब्रह्मचर्चा हुआ करती थी ।

'क्यों महाराज !' कवि पूछता हैं ।
'कवि नहीं रहा था ।'
'कवि तो अनेक हैं देव !'
'मेरा शेखर, मेरा पुनीत कहाँ है ?'
'वह तो अकिंचन हैं महाराज !
'वही तो अभिनव जयदेव हैं ।'
अभिनव जयदेव !!
जय जगदीश हरे...
जय जगदीश हरे...
ललित लवंगलता परिशीलन
        कोमल मलय समीरे...

और कवि ने गाया था...
सरस वसंत समय भल पाओल
    दखिन पवन वह धीरे...
'चलना होगा कवि !' विदूषक कहता है ।
कवि की ओर देखकर महाराज के स्वर निकलते हैं:
की हम साँझक एकसरितारा
    भादव चौठिक ससी

रथि दुहु माझ कओन मोर आनन
    जे पहु हेरसि न हँसी ।
हठात् कवि गाने लगता है—
साए साए कहह कन्हु
कपट करह जनु

कि मोरा भेल अपराधे…❀

कहीं एक कोने में कोई जल्दी जल्दी लिख रहा है। वह कवि का लेखक है, सतत उद्यत और तत्पर…

राजा के नैनों में आनन्द फैल गया है, विदूषक के होठों पर तृप्ति की मुस्कान है। कवि भूल गया है…

न मोयँ कबहु तुअ अनुगति चुकलिहुँ
बचन न बोलल मंदा
सामिसमाज प्रेम अनुरंजिए
कुमुदिनि सन्निधि चंदा। ❀

कवि चुप होगया है।

राजा पूछता है: 'और आगे?'

कवि नहीं बोलता।

'तो फिर चलो। वहीं पूर्ण होगी।'

'वहाँ मुझे आपने नहीं रुकवाया?'

'नहीं।'

'तो?'

'लखिमा देइ ने।'

'महारानी ने!'

❀ हे सखी, कान्ह से कहो मुझसे कपट न करें, मेरा अपराध क्या हैं? न तो मैंने तुम्हारी आज्ञा मानने में कभी चूक की है, न कभी दुर्वचन ही कहे हैं। हे स्वामी, मेरे साथ प्रेम को उसी प्रकार निबाहिये जिस प्रकार चंद्रमा कुमुदिनी के निकट रह कर उसे अपने प्रेम द्वारा अनुरंजित करता हैं।

'क्यों महाराज !' कवि पूछता हैं।
'कवि नहीं रहा था।'
'कवि तो अनेक हैं देव !'
'मेरा शेखर, मेरा पुनीत कहाँ है ?'
'वह तो अकिंचन हैं महाराज !
'वही तो अभिनव जयदेव हैं।'
अभिनव जयदेव !!
जय जगदीश हरे...
जय जगदीश हरे...
ललित लवंगलता परिशीलन
कोमल मलय समीरे...

और कवि ने गाया था...
सरस वसंत समय भल पाओल
दखिन पवन बह धीरे...
'चलना होगा कवि !' विदूषक कहता है।
कवि की ओर देखकर महाराज के स्वर निकलते हैं:
की हम सांझक एकसरितारा
भादब चोठिक ससी

रथि दुहु माझ कओन मोर आनन
जे पहु हेरसि न हँसी ।
हठात् कवि गाने लगता है—
साए साए कहह कन्हु
कपट करह जनु

कि मोरा भेल अपराधे…❀

कहीं एक कोने में कोई जल्दी जल्दी लिख रहा है। वह कवि का लेखक है, सतत उद्यत और तत्पर…

राजा के नैनों में आनन्द फैल गया है, विदूषक के होठों पर तृप्ति की मुस्कान है। कवि भूल गया है…

न मोयँ कबहु तुअ अनुगति चुकलिहुँ
बचन न बोलल मंदा
सामिसमाज प्रेम अनुरंजिए
कुमुदिनि सन्निधि चंदा। ❀

कवि चुप होगया है।

राजा पूछता है: 'और आगे ?'

कवि नहीं बोलता।

'तो फिर चलो। वहीं पूर्ण होगी।'

'वहाँ मुझे आपने नहीं रुकवाया ?'

'नहीं।'

'तो ?'

'लखिमा देइ ने।'

'महारानी ने !'

❀ हे सखी, कान्ह से कहो मुझसे कपट न करें, मेरा अपराध क्या हैं ? न तो मैंने तुम्हारी आज्ञा मानने में कभी चूक की है, न कभी दुर्वचन ही कहे हैं। हे स्वामी, मेरे साथ प्रेम को उसी प्रकार निबाहिये जिस प्रकार चंद्रमा कुमुदिनी के निकट रह कर उसे अपने प्रेम द्वारा अनुरंजित करता हैं।

'हाँ मित्र !'

'क्यों देव !'

'नारी का स्वभाव !'

अपनी स्त्री की कवि को याद आती है। वह कहता है : किन्तु नारी तो राधा थी !

विदूषक कहता है : 'कवि और राजा दोनों सुनें। पुरुष की कल्पना की नारी, इस पृथ्वी पर घूमती ही नहीं। पुरुष अपनी कल्पना में केवल अच्छा चित्र बनाता है, किंतु नारी के ऐहिक रूप में रहने वाली, लालसा, तृष्णा, वासना और उसके अहं को छोड़ देता है, इसीलिये वह भूल जाता है। स्त्री की खुशामद करने से ही निस्तार होता है।'

राजा कहता है ! 'अच्छा ! आज तुम्हारी सफलता का रहस्य जाना।'

'महाराज ! कहते हैं, प्राचीनकाल में मगध में एक नंद नामक राजा था। उसका एक शकटार नामक मंत्री था। एक रात शकटार की स्त्री रूँठ गई। शकटार ने पूछा : तू कैसे मनेगी ? उसने कहा : जो तू सिर मुँड़ा कर आये तो मैं मनूँ। शकटार ने सिर मुँड़ा कर उसे प्रसन्न किया। राजा नंद की भी स्त्री रात में रूठ गई। राजा ने पूछा : तू कैसे मनेगी ? वह बोली कि तू अपने मुँह में घोड़े की लगाम डाल और मैं तुझे चलाऊँ। चलते में तू घोड़े की तरह हिनहिनाता रहियो। राजा ने यही किया। प्रातःकाल सभा में शकटार के मुँड़े सिर को देख कर राजा नंद ने कहा : कहो अमात्य। सिर कैसे मुँड़ाया। घर में सब कुशल तो है ? अमात्य मन ही

मन लज्जित हुआ, किंतु वैसे बड़ा चतुर था। तुरंत बोला : महाराज ! रात मैंने स्वप्न में देखा कि एक स्त्री अपने वीर पति के मुँह में लगाम डाले चला रही है और वह विचारा हिनहिनाता भाग रहा है । इसी की लाज में मैंने तो सिर मुँडा डाला !

तीनों हँसते हैं।

विदूषक फिर कहता है : 'कामिनी है न महाराज ! उसमें जो मान होता है न देव ! उसे पुरुष समझेगा ? उसे तो स्त्री ही वृद्धा हो जाने पर नहीं समझ पाती ! कामी उस नारी के मान का दास बन जाता है । योगी उसे देखकर भाग जाता है। आनन्द भी लेती है, किंतु पुरुष को स्वार्थी कहती है और मातृत्व में तो उसने बड़ा ही भारी अहसान मानों पुरुष पर लाद दिया हो ! बिचारा गृहस्थ ! क्या क्या झेले ! क्या-क्या न झेले !'

तीनों फिर हँसते हैं।

कवि-पत्नी सुन रही है। क्रोध से होंठ काटती है। सोचती है, ग्राम क्या मिल गया, इन्होंने सब-कुछ उगल दिया होगा ? नहीं तो राजा और विदूषक को क्या पता चलता ! देखूँगी। मैं तो जानती ही थी कि मुझसे मन ही मन घृणा करते हैं ! हाय, विधाता तूने मुझे स्त्री क्यों बनाया, जो मैं इतना सब कुछ करके भी ऐसी निराश्रित हूँ।

किंतु वह क्या जाने कि बात लखिमा की होरही हैं ।

कवि-पत्नी सोच रही है, आज प्राण ही त्याग दूँगी ।

किंतु कवि चलागया है। उसे राजा लेगया है ।

राजधानी में हलचल व्याप गई है।

'राजा ने विसपी दे दिया।'

'किसको !'

'विद्यापति ठाकुर को !'

'धन्य है।'

'क्या धन्य है ? वाह ! क्या न्याय है।'

यों मिली जुली बातें। घात प्रतिघात।

राजोद्यान सज रहा है। आज भी पूर्णिमा का सा ही चंदा निकलेगा। उतना ही विशाल। कुछ छोटा हो जायेगा, किंतु दिखाई नहीं देगा वह भेद !

लखिमा सुन रही है।

दासी सिर पर चंदन-जल छिड़क रही है।

महारानी को कभी कभी मूर्छा आ जाती है।

वह पूछती है : 'तो महाराज आज पुष्करोद्यान में ही रहेंगे ? मल्लिकाकुंज में नहीं आयेंगे।'

'लगता तो ऐसा ही है। देवी !'

एक ओर दासी अरगजालेप कर रही है।

हठात् रानी कहती है—'मैं शृंगार करूँगी। मैं भी चलूँगी वहीं। अब नहीं सहा जाता।' दासियाँ जाती हैं।

रात हो गई है। लो, वह लाल सी चमक झाड़ियों के पीछे कैसी है ? अरे वही तो चन्दा है। अजीब सा है न ! लाल ! जैसे पिघलता तपता हुआ सुवर्ण। कितना सुन्दर है। अब वह धीरे धीरे आकाश में ज्योतिपिण्ड की भाँति चढ़ता जा

रहा है, और पता नहीं, क्यों समस्त वसुंधरा दूध से नहाई जा रही है !

अब वसंत का आनन्द थिरकने लगा है।

चारों ओर अबीर और गुलाल उड़ रही है । सुन्दरियाँ चलती हैं तव पायलों की झनक झनक से दिगंतों में वासना गमगमाने लगती हैं।

राजा बैठा हैं।

कवि गा रहा है।

ऋतुराज के आगमन से वृन्दावन मानों नवीन हो उठा हैं। नये नये वृक्षों में नवीन पुष्प खिले हैं। नया ही वसंत हैं, नवीन मलयानिल बह रहा हैं और नये भ्रमरों के झुण्ड मस्ती से पागल हो उठे हैं। नये प्रेम में बेसुध होकर नवल किशोर कृष्ण यमुना-तीर पर सुशोभित सुन्दर नवीन कुंजों में बिहार कर रहे हैं। आम्र की नवीन मंजरियों के मधु को पीकर मत्त हुई कोकिला कुन्जों में कूक रही है । सारी नवयुवतियों का चित्त भी प्रेम-रस से उन्मत्त हो उठा है और वे नवीन प्रेमरस की खोज में कुंजों की ओर जा रही हैं। इसी मस्ती के विभोर वातावरण में नवल किशोर और नागरि किशोरी भाँति-भाँति से मिलकर आनन्द मनाते हैं । कवि विद्यापति की मति इस मादक आनन्द से प्रेरित होकर इच्छा करती है कि वे दोनों ऐसी ही क्रीड़ा नित्य ही किया करें।

चारों ओर आनन्द छा गया है। ऐसा लगता है जैसे लता और वृक्षों ने मंडप जीत लिया है और चंद्रमा की निर्मल ज्योत्स्ना ने चारों ओर उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण करके मानों

भीतों पर सफ़ेदी कर दी है । सरोवरों में पड़े पद्मनाल के जाल ही विवाह के इस अवसर में निर्मित किये गये ऐपन के चौंक हैं और वृक्षों के कोमल लाल लाल किसलय ही प्रकृति के परिधान हैं । आज विवाह की लालसा से ही ऋतुराज वसंत अपना पूर्ण श्रृंगार करके वनस्थलीरूपी वेदी पर आ गया है । सुहागिनों की भाँति भ्रमरियाँ मंगल-गान कर रहीं हैं । वरराज वसन्त ने पुष्पों के मकरन्द को हस्तोदक बनाया हैं और चन्द्रमा अभिन्न मित्र सा आ गया है । मन को प्रफुल्लित करने वाला मन्द समीर चारों ओर लहरा रहा हैं । चम्पा और पलाश के सुनहले तथा माधवी लता के श्वेत पुष्प के स्तवक मानों तोरण हैं और बेलवृक्ष से निरन्तर झरते पुष्प हैं धान का लावा जिन्हें पृथ्वी पर बिखेरा जा रहा है'''अनन्त यौवना प्रकृति को सुनहले केशर कुसुम मिले हैं सिंदूर से और वसन्त को बालाओं का मान । यह तो कामदेव का कौतुक ही जो ठहरा ।

युवतियाँ, तरुणियाँ, लोक-लाज त्याग कर नाच रही हैं । आज व्यापारी श्रेष्ठ वसन्त राज वर के रूप में जो आ गया है । सुलक्षण नारियाँ, हस्तिनी, चित्रिणी, पद्मिनी, श्यामा, वयस्का, नव बालाएं मिलकर मङ्गल-कार्य्य में रत हो गई हैं । सबने श्रृङ्गार किया है, कोई रेशमी सुन्दर वस्त्र धारण किये है, कोई अपनी शंख सी सुन्दर ग्रीवा पर मालाएं डाले है । किसी ने चन्दन घिसकर कटोरे में रखा है और कोई सुहागिन आँचल में कपूर और पान भरे खड़ी है । किसी के शरीर पर मले केशर की गंध आ रही है और किसी की मोतियों से भरी मांग पर आलोक झिलमिल कर रहा है ।

विभोर हो रहा है नृत्य ।

राजा कुसुम्भा पी रहा है ।

अब नृत्य में वसन्त का स्वागत हो रहा है...

नवीन कोमल पल्लवों का आसन बिछा दिया गया है, श्वेत कमलों से मंगल कलश की स्थापना की गई है,

नर्त्तकी नृत्य कर रही है । पुष्पों से टपकता पराग अब उसकी मुद्राओं में गंगा-जल की भाँति बह रहा है और दीप बुझाने के लिये बढ़े हाथों ने हठात् अशोक की कोमल लाल लाल पत्तियाँ हिला दी हैं...

तो वह वसन्त को चूम रही है...

चन्द्रमा है कि जमाया हुआ दही और भ्रमरी कैसी नाइन सी घूम घूम कर सारे नागरिकों को न्यौता दे आई है । वृक्षों के किसलय से रेशमी दुकूलों पर केतकी का पराग माँगलिक छीटों सा लग रहा है...

कवि ने देखा । बांई ओर की झाड़ी के पीछे क्लांतवदना कोई एकाकिनी खड़ी थी । कवि ने सहसा गाना प्रारंभ कर दिया:

कोलाहल करता हुआ मलयानिल दसों दिशाओं में बह रहा है अतः हे सखी ! वाद न कर । साधन नहीं रहा तो मन्मथ ने मानिनियों के मन को ही नीरस कर दिया । हे सखी ! शीत और वसंत में विवाद होगया है । कौन करेगा उनकी जयपराजय का निर्णय ? लो ! दोनों ने चुना है दिवाकर को और महापंडित द्विजवर कोकिल को साक्षी । उसने तो कह भी दिया है । दिवाकर का निर्णय है । नवीन किसलय

ही जय-पत्रक हैं, उन पर भ्रमर पंक्तियों से लिखे हैं ये अक्षर ! वादी वसंत से प्रतिवादी शिशिर भयभीत होगया है और तभी तो वह ओस की बूंदों के रूप में प्रगट हुआ है। कुंद के सुन्दर कुसुम खिले हैं और कैसे प्रयत्न से वसंत विजयी हुआ। कवि विद्यापति गाता है, राजा शिवसिंह इस रस को जानते हैं।

अचानक उस क्लांतवदना के अश्रु गालों पर टपक पड़े हैं। कवि देखता है। सब विभोर हो रहे हैं। चाँदनी में दीप-मालिकाएँ कितनी सुन्दर लगरही हैं।

ध्वनि आती है—द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमिया…

यह लो, नृत्य प्रारंभ होगया है। वही रास, आनन्द, करताल सम पर उठते हैं। ध्वविया वजने लगा है। मादल बोलता है—डिमडिम डफ डिमिक डिम। मंजीरों से स्वर आता है, रुनझुन, रुनझुन…किंकिणियाँ रणन करती हैं, वलयों से कनकन की झंकार झूमती है। मधुवन में तुमुल रास होरहा है। वीन और मुरज वज रहे हैं—सा रि ग म प ध नि सा…सा रि ग म प ध नि सा…आरोह और अवरोह के स्वर गूँज रहे हैं…स्वर मंडल में राव हो रहा है…श्रम से स्वेद ने नर्त्तकियों को भिगो दिया है, उनकी कवरियाँ चंचल होकर खुल गई हैं, गलों में पड़ी मालती की मालाएँ टूट कर मानों मोती विखेर रही हैं।

और कवि गाता है:

हे मानिनी ! अव मान करना उचित नहीं है। इस समय तो ऐसा लग रहा है जैसे कामदेव सोते में से जाग उठा हो।

कैसी शीतल रात्रि है। चंद्रमा भकाभक चमक रहा है। ऐसा समय फिर नहीं आने का। इस अवसर पर प्रियतम से मिलने में जो सुख है, उसे तो वही जान सकता है, जिसने इसका कभी अनुभव किया हो !

भाड़ी के पीछे नारी के मुख पर एक शांति छागई है। कवि तन्मयता से गारहा है—

रभसि रभसि अलि
विलसि विलसि करि
करए मधुर मधु पान,
अपन अपन पहु
सबहु जेमाओलि
भूखल तुअ जजमान। +

नारी मुस्करा उठती है, मानों उसकी चेतना में कोई सौम्यता भर गई है। अब उसका वह कुंठित अहं नहीं है सामने...वह धीरे धीरे गल रहा है...

कवि गाता है—हे सखी ! तेरी त्रिवली की छवि ऐसी सुन्दर है मानों त्रिवेणी की ताल तरंग में गंगा यमुना का संगम हो रहा है और संगम-स्थान पर उरज रूपी शंभु की स्थापना की गई है। हे बाले ! तेरा व्याकुल प्रिय इस तीर्थराज के संगम पर तुझसे दान माँगता है। तू उसे अपना

+ इस समय भ्रमर उमंग में आकर इठलाता हुआ सुन्दर पुष्पों के मधु का पान कर रहा है। हे सखी ! तुम्हारे प्रियतम रस के भूखे हैं और अपने अपने प्रियों को सबही खूब खिला रही हैं।

सर्वस्व दान करदे।

हे वाले ! मन की दशा वड़ी चंचल होती है। वह दीप की लौ की भाँति कभी स्थिर नहीं रहता। तू अपने ज्ञान को सावधान कर। कवि विद्यापति कहता है कि अधिक संचित काम-पीड़ा वड़ी दुखदायिनी होती है…

नारी वाहर आ गई है। उसके सिर पर इस समय फूलों की मालाएँ हैं और हाथों में कुसुमों के आभूषण !

'कौन ! महारानी !' वृद्ध मन्त्री चमत्कृत-सा धीरे से पूछता है।

'हाँ।' सेनापति कठोर भ्रू-चालन करके स्वीकार करता है…

महारानी कहती है: 'कवि ठाकुर।'

'महारानी !'

'क्या यह वासना ही नहीं है ?'

सेनापति प्रसन्न है, मंत्री भी।

किन्तु ठाकुर कहता है: 'अनादि काल से यह सृष्टि शिव और पार्वती और राधा माधव की क्रीड़ा से ही जीवन और शक्ति ग्रहण करती रही है। नारी का रूप ही समस्त संप्रदायों में अपनी साधनाओं का उद्गम रहा है। महाशून्य की कल्पना का लौकिक आनन्द इसीलिए स्त्री-पुरुष-मिलन के सुख की चरमासक्ति में गिना गया है। महारानी ! इसी आनन्द की अनुभूति में महाकवि कालिदास ने नारी को पार्वती के रूप में देखा था और उस उदात्त भूमि तक लाने के लिए जिसमें वासना अपने नग्न और पूर्ण रूप में होते हुए भी कल्मष से

परे होती हैं; नारी की क्षुद्रता को हटाने के लिए महाकवि ने उससे तप करवाया था, जिसके कि फलस्वरूप वह अन्ततोगत्वा परमशिव पर लौकिक सर्जन के देवता काम के माध्यम से उसके अनङ्ग बन जाने पर भी प्रेम के बल पर विजय प्राप्त कर सकी। जो इस लोक की व्याप्ति में परमात्मा के प्रसादों में काया को भूल जाता हैं और आंगिक सुख से अलग कर के आत्मिक सुख को देखता है, वह वास्तव में सत्य को नहीं देखता। वासना को केवल अङ्ग-चेष्टाओं में ही समाप्त करना तो वज्रयानियों ओर वाममार्गियों का काम है। किन्तु वामा से परे तो योगी भी नहीं, क्योंकि वे वामा को कुण्डलिनी के रूप में देखते हैं। वासना एक सत्य हैं और वह एक लीला हैं, जिसकी वेदना में भी मिठास हैं,' यदि वह प्रेम की विभोरता में तल्लीन है। यही तो राधा-माधव, शिव-शिवा की भूमियों का प्रसाद है।

राजा शिवसिंह तल्लीन बैठा है। महारानी कहती हैं : 'महाकवि ठाकुर ! आप अमर होंगे, आप शाश्वत रहेंगे। आपने मेरे मन का संशय मिटाया है। वे इसी मार्ग से मिल जाते हैं न ?'

नारी आँखें उठाती है।

उन आँखों में गर्व है, आनन्द है, तृप्ति है, विभोरता है, वासना है, स्खलन का सुख है, माधुर्य्य है, अमर प्रतीक्षा की दुरुहता है, प्राप्ति को असीम बना कर दूर से देख लेने की क्षमता है। वे आँखें देखती हैं, वे आँखें नहीं

देखतीं। इनमें लज्जा भी है, समर्पण भी, एक गोपनीयता है, एक रहस्य है, और फिर मुखरता भी है। अरूप की मूर्त्तिमती सत्ता उनमें आराधना का केन्द्र बन गई है, वैसे वे एक महा-शून्य सी हैं जिसकी समता के लिये महा पण्डित और महायोगी व्याकुल हो रहे हैं। इस क्षण जैसे उस स्थान से क्षुद्रता, अहं और नीचता का तिरोधान हो गया है। वे आँखें हैं कि युगांतरों में गूंजने वाली मुरारी की बेसुध कर देने वाली बाँसुरी की तान का मोहक सम्मोहन बरौनियों की छाया बन कर आत्मलय की पुतलियों में साकार जीवन की तारा को धीरे-धीरे स्पंदित कर रहा हैं।

कवि देखता है।

महामन्त्री नहीं समझता। न सेनापति समझता है।

किन्तु राजा शिवसिंह समझ रहा है। वह चुप है, शांत!

सभा विसर्जित हो गई है।

पंडित और विद्वानों में बातें चल रही हैं।

पक्षधर मिश्र कहते हैं: 'कवि ठाकुर मेरे सहपाठी ठहरे!'

'क्या बात है?' नीलाम्बर कहते हैं। 'तभी तो देसी भासा का ठाठ बाँधा है। वाह, क्या कविता है!'

'संस्कृत तो अच्छी जानते हैं?' रत्नाकर मिश्र कहते हैं।

'जानते क्यों नहीं हैं?'

'फिर क्यों श्रम का नाश करते हैं?'

'अरे भाई! संस्कृत तो पुरुषों की वस्तु है।'

'तो मिथिला के पुरुषों के लिये वे लिखते कहाँ हैं?'

'वे तो स्त्रियों के लिये लिखते हैं।'

'हाहाहाहाहा...'

'खूब कहा...'

'कुछ झूठ है ?'

'शिव शिव !'

'झूठ का क्या काम ?'

'किन्तु यह तो अच्छा नहीं ।'

'राजा ही जाने ।'

'राजा से क्यों न कहें !'

सभा हो रही है । कवि भीतर जाने वाला है ।

सहसा दासी आकर कहती है: 'कवि ठाकुर ! महारानी बुलाती हैं इधर !'

कवि जाता है ।

'प्रणाम कवि ठाकुर'

'सौभाग्यवती रहें देवी ।'

'आप जानते हैं ?'

'क्या महारानी !'

'आज पंडितों ने आपके विरुद्ध अभियोग लगाया है ।'

'मेरे विरुद्ध ! क्यों ?'

'वे कहते हैं अवहट्ठ तक तो ठीक था, किन्तु यह जो गँवारों की भाषा में विद्यापति कविता कहते हैं, वह क्या राजसभा के गौरव को गिराने वाली बात नहीं है ?'

'देवी, क्या कहती हैं ?'

'मैं ?'

'हाँ देवी !'

लखिमा नहीं बोलती । केवल देखती है। अब कवि के मानस में वे आँखें उतर गई हैं।

'कवि ठाकुर', लखिमा कहती है—'मुझे तो उन्हीं कविताओं में अपने जीवन की सार्थकता दिखाई देने लगी हैं।'

कवि का हृदय हिलोरें भर रहा है।

दासी कहती हैं: 'चलें कवि ठाकुर ! महाराज बैठे हैं।'

'चलता हूँ।'

'जायें।' लखिमा कहती है—'एक दिन अवश्य ही मनुष्य आपके गीतों में राधा माधव के प्रेम की अमरता को देखेगा।'

'आपको विश्वास है देवी !'

'है कवि ठाकुर।'

कवि मुड़कर कहता है—'चल'

दासी आगे चलती है।

सभा में सब दिग्गजों की भीड़ है।

महाराज कहते हैं: 'कवि ठाकुर ! तुमने सुना ?'

'क्या देव !'

'लोग कहते हैं कवि ठाकुर की भाषा ग्रामीण है।'

'मैं भी ग्रामीण हूँ देव !'

'किन्तु अब तो नागरिकों में हैं।' सेनापति कहता है।

'हां, परन्तु मेरी कविता इतने से घेरे के लिये ही तो नहीं है न ? राधामाधव की लीला सभाओं के लिए, मनुष्यमात्र के लिये है न ?'

कोई उत्तर नहीं दे पाता।

'सुना आप लोगों ने ? कवि ठाकुर क्या कहते हैं ?'

महाराज कहते हैं।

विद्यापति गर्व से कहता है : 'महाराज ! गर्वोक्ति न हो तो कहूँ ? आज्ञा है।'

'निर्भय !'

'तो सुनें। बालचन्द वज्जावइ भासा, दुहुँ नहिं लागइ दुज्जनहासा।'* यह मैने बहुत प्रारंभ में कहा था।

'यह आपका किस पर आक्षेप है ?' सेनापति कहता है।

'आपही क्यों यह सुन कर क्रुद्ध हैं ?' कवि पूछता है।

वृद्ध मंत्री को हँसी आती है, मुँह फेर लेता है। सब मुस्करा जाते हैं।

सभा विसर्जित हो जाती है।

कवि लौट रहा है।

एक माधवी कुञ्ज के पीछे एक स्त्री खड़ी उसे अपलक निहार रही है।

दासी कहती है : 'महारानी।'

स्त्री नहीं चौंकती।

पूछती है : 'क्या है ?'

'देवि ! नील-कमलों का हार गूँथ दूँ ?'

'हाँ, गूँथ दे।'

'महाकवि गये देवि ?'

'चले गये।'

---

*बाल चन्द्रमा और विद्यापति की भाषा, इन दोनों को दुर्जनों। के हास्य नहीं लगते।

'बुलाऊँ ?'

'नहीं। कवि बार बार नहीं बुलाये जाते। वे तो देवता के समान होते हैं।'

'देवता !'

'हाँ री !'

'कविठाकुर तो कहते हैं कि हमारे महाराज शिव के अवतार हैं।'

'तो अवश्य हैं।'

'क्यों देवी ?'

'कविठाकुर जो कहते हैं। वे तो भगवान हैं ?'

दासी नहीं समझती।

'मैं जाऊँ देवि ?'

'तू जा !'

'आप चलेंगी !'

'तू चल।'

दासी चली जाती है।

महारानी खड़ी देखती रहती है। अब कवि नहीं दीख रहा है, किंतु वह इसी पथ से गया जो है।

वृद्ध मंत्री का रथ धीरे धीरे जारहा है। नदीतीर पर मांझी गारहे हैं—जिसका मन जिस पर अनुरक्त होता है वह वहीं घुस-पैठ करता है। चाहे जितने यत्न से मन को बाँधकर रोक रखो वह तो उसी ओर दौड़ पड़ता है, बिल्कुल उसी प्रकार जैसे नीचे स्थान में पानी स्वतः भर जाता है। कवि विद्यापति कहता है कि इस रसरीति को केवल लखिमादेवी

के प्राण-वल्लभ, समस्त गुणों की खान महाराज शिवसिंह ही जानते हैं।

वृद्ध मंत्री कहते हैं: 'अरे विश्वनाथ !'

'हाँ महाराज।' सारथि कहता है।

'क्या गाया, इसने क्या गाया ?'

'ऐं महाराज !'

'ये लखिमादेवी का नाम लेता था न ?'

'हाँ प्रभु !'

'बुला तो इसे।'

'प्रभु ! वह कवि ठाकुर का गीत गाता था।'

'कवि ठाकुर। कवि ठाकुर क्या लखमादेवी का नाम भी गीतों में जोड़ रहा है कि राह बाट के लुच्चे ऐसे गंदे गानों में मिथिला के कुलीन राजवंश की महारानी का नाम जोड़ते हैं ?'

'नहीं प्रभु !'

'क्या नहीं प्रभु ? मैंने सुना है न ?'

'हाँ प्रभु !'

'लौट चल। मैं महाराज से कहूँगा।'

रथ लौट आता है।

द्वार पर सेवक झुकते हैं।

'आज्ञा प्रभु !'

'महाराज हैं भीतर ?'

'हैं प्रभु !'

'क्या करते हैं ?'

कवि ठाकुर से गीत सुनते हैं। लखमादेवी भी हैं।'

वृद्धमंत्री के पाँव ठिठकते हैं। वे लौटते हैं।

'सूचना देदूँ प्रभु !'

'नहीं।'

'क्यों प्रभु ! मिलेंगे नहीं।'

'फिर मिलूँगा। मुझे गीतों का नहीं, राजकाज का काम है।'

'यहाँ तो प्रभु !' सेवक लाचारी की मुद्रा दिखाता है। जैसे यहाँ तो बहुत बुरा काम होरहा है किंतु मैं क्या करूँ !

वृद्ध चला जाता है। तब वह अपने साथी से कहता है: 'बूढ़ा बड़ा खिसिया रहा है। कवि ठाकुर ने तो मजे बाँध दिये। क्या कविता लिखी है......

वह धीरे धीरे गाता है—

अँगने आओव जब रसिया
पलटि चलब हम इषत हँसिया।
रस नागरि रमनी
कत कत जुगति मनहि अनुमानी। ॐ

वह उठता है और फिर कुछ नृत्य सा करता है—

आवेसे आँचर पिया धरबे
जाएब हम न जतन बहु करबे।
कँचुआ धरब जब हठिया
करे कर बाँधब कुटिल आध दिठिया। ॐ

ॐ हे सखी जिस समय मेरे रसिया मेरे आँगन में आयेंगे मैं उन्हें देख मंद मंद हँसती हुई पलटकर चलूँगी। मैं रसीली बड़ी चतुरा हूँ। कितनी कितनी युक्ति से मान

सब प्रसन्न होते हैं। वह फिर गाता है—

रभस माँगब पिया जबही
मुख मोड़ि विहँसि बोलब नहि नहि ।
सहजहि सुपुरुख भमरा
मुख कमलक मधु पीअब हमरा ।
तखन हरब मोर गेआने
विद्यापति कह धनि तुअ धेआने । ❀

उसी समय सेवक मुड़कर देखता है और 'बापरे बाप !' कह कर सामने के कुंज में जा छिपता है। वृद्ध मंत्री क्रुद्ध से देख रहे हैं, वे गाना सुनकर लौट आये हैं।

'क्या देख रहे हैं महामंत्री !' एक गंभीर स्वर सुनाई दिया है। वह वृद्ध राजपुरोहित हैं।

वृद्धमंत्री को बोलने में समय लग रहा है।

'आपने सुना !' वे कहते हैं।

मनवाऊँगी। जब आवेश में वे मेरा आँचल पकड़ेंगे, भले ही वे कितना भी यत्न करलें, मैं पास न जाऊँगी। जब वे हठ करके मेरी चोली पकड़ेंगे तब हाथ पकड़ कर कठोर दृष्टि से देखूँगी। वे जब रतिक्रीड़ा चाहेंगे तब मै मुँह मोड़ मन ही मन हँसकर भी 'नहीं', 'नहीं' ही कहूँगी। किंतु भ्रमर तो स्वभाव से ही फूलों का मकरन्द पीता है, वैसे ही मेरे मुख कमल के रस को वे भी सहज ही पियेंगे। उस समय तो वे मेरे सकल ज्ञान को हर लेंगे। विद्यापति कहता है कि हे बाले, तेरा ऐसा विचार सचमुच अनुपम और धन्य है।

'क्या ?'

'यही जो वह गारहा था ?'

'वही क्या गारहा था ? मिथिला ही जो गारही है। उसी का क्या दोष है।'

'तो क्या यह ठीक होरहा है ?' मंत्री कहता है।

'भगवान जाने।'

'आप धर्म की स्थापना कहते हैं। ब्राह्मण शास्त्र की मर्यादा देता है। आप क्यों चुप हैं। यह जो वासना का नग्न ताण्डव होरहा है, वह क्या ठीक है ?'

'ठीक कहाँ है ?'

'फिर उसका उपाय ?'

'कोई नहीं।'

'क्यों ?'

'क्योंकि पहले राजा ही विद्यापतिठाकुर के प्रशंसक थे, अब तो कवि रानी के भी उपास्य होगये हैं।'

'यह आप क्या कह रहे हैं ?'

'राजपुरोहित होकर क्या इतना भी नहीं जानूँगा कि क्या कह रहा हूँ।'

'किंतु राजा राजनीति से दूर हुए जारहे है।'

'प्रेम रस की यही तो बात है महामंत्री। हम और आप तो अब वृद्ध होगये हैं न ?'

वे हँसते हैं।

वृद्ध मन्त्री नहीं हँसते।

उनके मन में दावानल सुलग रहा है। वे नहीं समझ पाते।

रथ पर लौटते हैं ।

मार्ग में किसान खेतों में गाते हुए सुनाई देते हैं—

सुनु रसिया

अब न बजाऊ विपिन बँसिया…

वे नहीं सुनना चाहते किन्तु ध्वनि फिर भी कानों में पड़ रही है । वे मन ही मन कहते हैं:

भजगोविंदं,

भजगोविंदं,

गोविंदं भज

मूढमते….

किंतु मन नहीं लग है रहा…

सुनाई देता है…

अनुभव ऐसन मदन भुजंगम

हृदय मोर गेल डसिया…

फिर वही कामदेव भुजंग बन गया । हृदय को डस गया !

अनाचार -

भज गोविंदं,

भज गोविंदं

गोविंदं भज

मूढमते….

और फिर स्वर सुनाई देता है—

विद्यापति कह…

वही विद्यापति !

जिधर देखो विद्यापति !

मिथिला पागल होगई है ?
हाँ, मिथिला पागल होगई है।

रात होगई है।

दासी कहती हैं : 'देवी ! सोई नहीं ?'

'नींद नहीं आरही है।'

'क्यों देवी ?'

'पता नहीं।'

'आज वृद्ध मंत्री क्रुद्ध होकर कहते थे···

'क्या कहते थे ?'

'मिथिला पागल होगई है :'

'क्यों भला ?'

'जिधर देखो वहीं विद्यापति गूंज रहा है।'

'सच !'

और वही आँखें फिर चमक उठती हैं···

वही आँखें, समुद्र के कूलों सी, अथाह तरंगों वाली···

'मालती कहाँ है ?'

'बाहर है देवी !'

'उसे बुला तो।'

मालती आती है।

'मालती !'

'हाँ देवी !'

'तू गाती है बहुत सुरीला।'

'कहाँ देवी मैं तो····

'तो गा न ? सखि कि पुछति···

मालती बैठ जाती है। तानपूरा छिड़ता है। एक वीणा मिलाती है। मंदारिका मृदंग सँभालती है।

मालती गाती है। गीत के विभोर स्वर फूट निकलते हैं–

हे सखी! प्रेम के क्षेत्रों में मेरे अनुभवों को मुझसे क्या पूछती हो? प्रीति और अनुराग की बातें तो वही बता सकता है जिसने क्षण-क्षण पर प्रेम के नये-नये अनुभव ग्रहण किये हों।

मालती का स्वर अत्यन्त मधुर हो जाता है—

जनम अवधि हम रूप निहारल
        नयन न तिरपित भेल
सेहो मधु बोल स्रवनहि सूनल
स्रुति पथ परस न भेल।

रानी झूम रही है।

क्यों न झूमे! जनम अवधि तो रूप देखा, और नयन तृप्त ही नहीं हुए। वही मीठे बोल सुनते जीवन निकल गया किंतु कभी कानों की तृप्ति नहीं हुई।

रूप भी, माधुरी भी। कितनी डुबान, सराबोर...तन्मयता का अछोर पथ...दूर दूर तक एक ही लय...

और फिर किस सुहागिन के साथ रात बितादी तुमने कान्ह! यह मैं कब पूछती हूँ? मैं तो बस इतना जानती हूँ कि लाख-लाख युग तो बीत गये परंतु हृदय में तुम्हारी प्रीति को धारण करने पर भी अभी हृदय में शीतलता नहीं छाई। रस तो रसिक ही जानते हैं। अनुभव को क्या कोई देख सकता है? विद्यापति कहता है लाखों में भी हृदय को शीतल करने

वाला एक नहीं मिलता ।

गीत थम जाता है, धीरे धीरे उतर कर ।

रानी विभोर बैठी रहती है···

आँखें कैसी खुली रह गई हैं···जाने कैसा अमृत भर गया है इन आँखों में !

और यों आनन्द की कली सिरजती है, आनन्द ही फूल बनता है, उसी के पराग में, उसीमें सुरभि है, जो उसी के पवन पर हिंदोलित होकर, उसी के अंतराल में व्याप्त हो जाया करती हैं ।

किंतु सब-कुछ आनन्द नहीं है ।

वृद्ध महामन्त्री द्वार पर पूछता हैं : 'महाराज हैं भीतर ?'

'हैं प्रभु !'

'व्यस्त हैं ?'

'आपके लिये कभी नहीं, ऐसा वचन है ।'

प्रसन्न होकर भी वे चिंतित ही हैं । ड्योढ़ी पार करके दूसरी ड्योढी पार करते हैं ।

'महाराज,!!'

'आइये मंत्रि-श्रेष्ठ !'

वृद्ध बैठते नहीं ।

'बैठें ब्राह्मण देवता ।'

'देव ! जिस दिन इस भूमि में ब्राह्मण बैठ जायेगा, उस दिन फिर खड़ा कौन रहेगा ?'

'क्यों क्या हुआ ?'

'दिल्ली के सुल्तान ने मिथिला की ओर आंख उठाई है ।

धराशायी बंगाल को रौंद कर वह फिर दोनों ओर से मिथिला को भस्म कर देना चाहता है। और आप महाकवि विद्यापति ठाकुर के प्रेम-रस में डूब रहे हैं।'

'महामंत्री !' भीतर के प्रकोष्ट के द्वार से तीखा स्वर सुनाई देता है।

'कौन ?' महाराज देखते है।

महारानी !

महारानी हँसकर बढ़ती है और कहती है : तो 'मंत्रि-श्रेष्ठ भयभीत होगये हैं। मेरे स्वामी को आप नहीं जानते ब्राह्मण देवता ! महाकाल शिव ने जिस प्रकार देवताओं के रक्षक कार्त्तिकेय को जन्म देने के पूर्व आनन्द किया था न, वैसे ही मेरे स्वामी ने भी आनन्द किया है। कवि ठाकुर की पदावली क्लीव और लोलुप नहीं बनाती मन्त्रिश्रेष्ठ ! वह जीवन के आनन्द को भोगने की क्षमता देती है।'

प्रांगण के द्वार पर घोड़ा रुकता है।

घोड़े से उतरता है विद्यापति। हाथ में लंबा खड्ग है।

लखिमा की आँखों में वही युगों की तृप्ति अतृप्ति बन कर झलक रही है।

विद्यापति पुकारता है : 'शिव के अवतार हैं !'

'हैं कवि !' रानी कहतीं है।

राजा मुस्कराता है।

'तत्पर हैं न महाराज ?' कवि पूछता है।

'तुम चलोगे कवि ?'

'निश्चय !'

'फिर गीत कौन लिखेगा। मैं तो प्रहरी हूँ, मुझे जाना है, तुम क्यों ?'

'प्रहरी आप हैं, मैं नहीं ?'

विदूषक कहता है : 'तो सभी प्रहरी हैं । कहीं मैं तो नहीं हूँ ?'

महाराज कहते हैं : 'नहीं विदूषक ! पहली खेप पुरुषों की जारही है।'

सब हँसते हैं।

महाराज कहते हैं : 'मन्त्रि-श्रेष्ठ ! चिंतित क्यों हैं ?'

महाराज चलते हैं। भीम गजराज की गति है उनकी ! लखिमा देखती है। तृप्त होती हैं आँखें। फिर भर आती हैं। कहती हैं : 'ठहरें महाराज !'

'क्यों देवी !'

'मङ्गल-अर्चना तो करलूँ।'

दासियाँ दौड़ती हैं।

तब रानी थाल उठाकर रोली को पानी में भिगोकर आरती करके घोल धरती पर गिराती है।

'कहें देवी !' कवि कहता है—'तू मिथिला का, मिथिला तेरी !'

'तुम कहो कविराज !'

'मैं तो युद्धभूमि में भी कहूँगा।'

'चलोगे कवि ?' राजा पूछते हैं ?

'कौन रोकेगा मुझे ?'

'मिथिला।'

'क्यों ?'

'मिथिला को गीत चाहिये ।'

'वह कौनसा गीत है देव ! जो मिथिला की स्वतंत्रता से भी बड़ा है ?'

'है, कवि है ।'

'मैं नहीं जानता देव ।

'इसीसे तो तुममें गंध है रे सुवर्ण ।'

'कैसे महाराज !'

'तुम इस समय आवेश में जो हो ।'

'क्यों देव !'

क्योंकि मैं महाराज हूँ और देख रहा हूँ कि बहुत ही महत्त्वपूर्ण दिखाई देने वाले यह संघर्ष वास्तव में मूल संघर्ष नहीं हैं । मिथिला हार भी सकती है, शिवसिंह मर भी सकता है, किंतु क्या मिथिला मर जायेगी ?'

'क्या कहते हैं महाराज ?' वृद्ध मन्त्री कहता है । 'यह तो कायरता की बात है ?'

'कायरता नहीं मंत्रि-श्रेष्ठ ! सत्य है ! जो कायर हैं वे मृत्यु के भय से सदैव सुनहला देखकर अपने को छलने का प्रयत्न करते हैं । जो जानता है कि युद्ध में विनाश भी है, मृत्यु भी, और तब भी वह नहीं डरता, विचलित नहीं होता, वही क्षत्रिय है । एक ओर हाथ में खड्ग लेकर उससे टपकती लहू की बूंदे देखकर मुस्कराना और दूसरी ओर पुष्पमाल लेकर उसकी गंध का आनन्द लेते हुए गीतों में डूब कर जीवन के

'फिर गीत कौन लिखेगा। मैं तो प्रहरी हूँ, मुझे जाना है, तुम क्यों ?'

'प्रहरी आप हैं, मैं नहीं ?'

विदूषक कहता है : 'तो सभी प्रहरी हैं । कहीं मैं तो नहीं हूँ ?'

महाराज कहते हैं : 'नहीं विदूषक ! पहली खेप पुरुषों की जारही है।'

सब हँसते हैं ।

महाराज कहते हैं : 'मन्त्रि-श्रेष्ठ ! चिंतित क्यों हैं ?'

महाराज चलते हैं। भीम गजराज की गति है उनकी ! लखिमा देखती है। तृप्त होती हैं आँखें। फिर भर आती हैं। कहती हैं : 'ठहरें महाराज !'

'क्यों देवी !'

'मङ्गल-अर्चना तो करलूँ।'

दासियां दौड़ती हैं।

तब रानी थाल उठाकर रोली को पानी में भिगोकर आरती करके घोल धरती पर गिराती है।

'कहें देवी !' कवि कहता है–'तू मिथिला का, मिथिला तेरी !'

'तुम कहो कविराज !'

'मैं तो युद्धभूमि में भी कहूँगा।'

'चलोगे कवि ?' राजा पूछते हैं ?

'कौन रोकेगा मुझे ?'

'मिथिला।'

'क्यों ?'

'मिथिला को गीत चाहिये ।'

'वह कौनसा गीत है देव ! जो मिथिला की स्वतंत्रता से भी बड़ा है ?'

'है, कवि है ।'

'मैं नहीं जानता देव ।

'इसीसे तो तुममें गंध है रे सुवर्ण ।'

'कैसे महाराज !'

'तुम इस समय आवेश में जो हो ।'

'क्यों देव !'

क्योंकि मैं महाराज हूँ और देख रहा हूँ कि बहुत ही महत्त्वपूर्ण दिखाई देने वाले यह संघर्ष वास्तव में मूल संघर्ष नहीं हैं । मिथिला हार भी सकती है, शिवसिंह मर भी सकता है, किंतु क्या मिथिला मर जायेगी ?'

'क्या कहते हैं महाराज ?' वृद्ध मन्त्री कहता है । 'यह तो कायरता की बात है ?'

'कायरता नहीं मंत्रि-श्रेष्ठ ! सत्य है ! जो कायर हैं वे मृत्यु के भय से सदैव सुनहला देखकर अपने को छलने का प्रयत्न करते हैं । जो जानता है कि युद्ध में विनाश भी है, मृत्यु भी, और तब भी वह नहीं डरता, विचलित नहीं होता, वही क्षत्रिय है । एक ओर हाथ में खड्ग लेकर उससे टपकती लहू की बूंदे देखकर मुस्कराना और दूसरी ओर पुष्पमाल लेकर उसकी गंध का आनन्द लेते हुए गीतों में डूब कर जीवन के

दोनों पक्षों का आनंद लेना केवल उसी क्षत्रिय का काम है, जो जीवन को देता है औरों के लिये, और जो सुख लेता है, लोक को सौंदर्य देने के लिये। यही मैंने किया है महामन्त्री। मैंने रस की धारा में स्नान किया है, धन्य हों यह विद्यापति ठाकुर, जिन्होंने मेरे रोम-रोम को तृप्त किया है। मेरे पास कल के लिये कुछ नहीं है, जो है सो आज के लिये, अब के लिये है और कवि के पास वह है जो आज के लिये भी है, कल के लिये भी। यह न समझें कि कायर विद्यापति की कविता सुनकर सच्चा आनन्द ले सकते हैं। कह नहीं सकता, भाग्य अज्ञात है, जियूँगा या मरूँगा, किंतु इस तलवार का पानी और कविठाकुर के गीत का हिंदोल कभी धोखा नहीं देगा। मैं ढोंगी नही हूँ जो लोक-मानस का आनन्द छोड़कर व्यर्थ के बंधनों में बंधा रहता। मिथिला का मैं प्रहरी हूँ और अब मुझे विदा दें।

वाहर तूर्यनिनाद हो रहा है। नरसिंहे वज रहे हैं। नगाड़े की धक धक धक धक भीषण स्वर से हृदयों को आवेश से भरे दे रही है।

महामन्त्री कहते हैं : 'महाराजाधिराज ! दिल्ली सुल्तान फीरोज़ तुग़लक की मृत्यु के उपरांत कोई भी समर्थ शासक दिल्ली में नहीं रहा है। अभी अभी तैमूरलंग भयानक रक्तपात करके इस देश को हत्या और लूट से रँग गया है। गुजरात, मालवा और जौनपुर के मुसलमान-शासक स्वतन्त्र होरहे हैं। जगह-जगह राजपूत राजा सिर उठा रहे हैं। ऐसे समय दिल्ली का निर्वीर्य्य सुल्तान मिथिला को दबाने आया है। यह तो

कुछ नहीं कर सकता। अभी तो दिल्ली अकालों की मार से उठ भी नहीं पाई है। रोज़ सिंहासन पर दिल्ली एक नया शासक देखती है। इकबाल खाँ और सुल्तान महमूद का साथ बनगया। परंतु चला नहीं। तब सुल्तान ने जौनपुर के इब्राहीम शाह की भी सहायता माँगी। किंतु जब काम न चला तो वह कन्नौज में आगया। और उसके व्यभिचार और अत्याचार से प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी। यह तुर्क बड़ा ही विलासी है। इकबाल को मुल्तान के सूबेदार खिज्र खाँ ने युद्ध में मार डाला है। यह दुर्बल सुल्तान महमूद ही भाग्य से इस समय दिल्ली का सुल्तान है। और उसी ने अपने घोर विलास की तृष्णा में लूट से अपने असंतुष्ट सिपाहियों को बहलाने के लिये मिथिला की वीरभूमि की ओर ललचा कर देखा है। खिलज़ियों के समय में जब कि भयानक संकट था मिथिला केवल कर देकर बच गई थी। उसके उपरांत कोई इसे नहीं दबा पाया। बोलिये ! क्या आज्ञा है।'

'युद्ध !' शिवसिंह गरते हैं।

गरजती है सेना!

महल के झरोखे से लखिमा की आँखों का पानी गिरता है।

सेनाएँ सिंहद्वार से बाहर निकल जाती हैं।

रानी एक लंबी साँस छोड़ती है। कहती है : 'मालती ! जीवन तो असार ही है न ?'

'सभी पुरुष कहते हैं देवी···

'हाँ, किन्तु कवि में स्त्री भी होती है···तभी वह संकट में, विनाश में, हाहाकार में भी···जीवन के शाश्वत रस को नहीं

भूलता और उसे जगाये रखता है'''वही तो मेरे कविठाकुर करते हैं''''

फिर वह आँखें पोंछती है'''

और फिर आँखें मींचकर प्रणाम करती है, सर्वव्यापक को'''

कुछ दिन बीत जाते हैं।

विजयी सेनाएं मिथिला में लौट रही हैं। विद्यापति ठाकुर घोड़े पर गारहे हैं—

महाराज शिवसिंह ने दूरस्थ दुर्गम गढ़ों को केवल अपनी हुँकार और उमंग से ही तोड़ डाला और अति दुर्गम गुप्त गढ़ों को बात की बात में नष्ट कर दिया। महाराज शिवसिंह ने दिल्लीपति सुल्तान की सीमा को पहुँची हुई मर्यादा को भी रणभूमि का दर्शन कराया।

'जय जय'''

'महाराज शिवसिंह की जय'''

'शत्रु-विक्रम''''दिल्ली सुल्तान-विजेता-महाराज शिवसिंह की जय'''

तुरंगों के गमन का एक स्वर''''

भाले ढालों से टकराते हैं'''

स्त्रियाँ गवाक्षों से लवा, फूल फेंकती हैं, रोली, अबीर हवा में फैल रही है'''पथ के दोनों ओर किसान, नागरिक, दल के दल लोग खड़े हैं। महाराज ऊँचे हाथी पर हैं, कवि घोड़े पर से गाता है, आज उसका स्वर गंभीर मेघ-गर्जन सा है—

डंके का कठोर शब्द, चंचल वायु में लहराती पताकाओं से सुसज्जित, रणभेरी, कोहल तथा शंखनिनाद से त्रिलोक को कंपित करने वाली वाहिनी के साथ जय-ध्वनियों से समस्त व्यापक वसुन्धरा और त्रिभुवन एक साथ गुंजायमान हो उठे, जिस प्रकार केतकी पुष्प का सौरभ चारों ओर के मलय को सुरभित बना देता है।

पार्वत्यनद जिस प्रकार प्रचण्ड वेग से बहता है और वायु-मण्डल में जिस वेग से गरुड़ उड़ता है, उसी प्रकार सूर्य के समान तपस्वी और प्रतापी महाराज शिवसिंह ने अपनी सेना के साथ यात्रा की है। महाराज शिवसिंह की वाहिनी की प्रचण्ड गति से स्वर्ण गिरि सुमेरू कम्पायमान होने लगा, जय-जय-निनाद से समस्त पृथ्वी आक्रांत होगई, और आकाश भी जयजयकार की प्रतिध्वनि से गूँजने लगा। तुरंगों की हिन-हिनाहट और पदातिकों के पदों की चाप से उत्पन्न घोर शब्द को कौन सह सकता है।

शत्रुओं के रुधिर से भीगी हुईं तलवारें समरांगण में इस तरह अपनी चंचल छटा छिटकाने लगीं जैसे वर्षा के मेघाडम्बर में दमकती विद्युच्छटा अपना तीव्र प्रकाश दिखाकर छिप जाती है। भीषण रणभूमि में उन्नद्ध योद्धाओं की गर्जना मेघों के तुमुल गर्जन और कठोर कड़क की भाँति सुनाई देती थी। असंख्य तुरंगों की भारी टापों से धरित्री चूर चूर होगई और चारों दिशाएँ और दिग्कोण धूलि से आच्छादित होगये। भयंकर बाणों की धारासार वृष्टि से व्योम आपूरित होगया और शत्रु के शोणित से वसुंधरा इस प्रकार भीग भीग गई

भूलता और उसे जगाये रखता है···वही तो मेरे कविठाकुर करते हैं····

फिर वह आँखें पोंछती है···

और फिर आँखें मींचकर प्रणाम करती है, सर्वव्यापक को···

कुछ दिन वीत जाते हैं।

विजयी सेनाएँ मिथिला में लौट रही हैं। विद्यापति ठाकुर घोड़े पर गारहे हैं—

महाराज शिवसिंह ने दूरस्थ दुर्गम गढ़ों को केवल अपनी हुँकार और उमंग से ही तोड़ डाला और अति दुर्गम गुप्त गढ़ों को वात की वात में नष्ट कर दिया। महाराज शिवसिंह ने दिल्लीपति सुल्तान की सीमा को पहुँची हुई मर्यादा को भी रणभूमि का दर्शन कराया।

'जय जय···

'महाराज शिवसिंह की जय···

'शत्रु-विक्रम····दिल्ली सुल्तान-विजेता-महाराज शिवसिंह की जय···

तुरंगों के गमन का एक स्वर····

भाले ढालों से टकराते हैं···

स्त्रियाँ गवाक्षों से लवा, फूल फेंकती हैं, रोली, अवीर हवा में फैल रही है···पथ के दोनों ओर किसान, नागरिक, दल के दल लोग खड़े हैं। महाराज ऊँचे हाथी पर हैं, कवि घोड़े पर से गाता है, आज उसका स्वर गंभीर मेघ-गर्जन सा है—

डंके का कठोर शब्द, चंचल वायु में लहराती पताकाओं से सुसज्जित, रणभेरी, कोहल तथा शंखनिनाद से त्रिलोक को कंपित करने वाली वाहिनी के साथ जय-ध्वनियों से समस्त व्यापक वसुन्धरा और त्रिभुवन एक साथ गुंजायमान हो उठे, जिस प्रकार केतकी पुष्प का सौरभ चारों ओर के मलय को सुरभित बना देता है।

पार्वत्यनद जिस प्रकार प्रचण्ड वेग से बहता है और वायुमण्डल में जिस वेग से गरुड़ उड़ता है, उसी प्रकार सूर्य के समान तपस्वी और प्रतापी महाराज शिवसिंह ने अपनी सेना के साथ यात्रा की है। महाराज शिवसिंह की वाहिनी की प्रचण्ड गति से स्वर्ण गिरि सुमेरू कम्पायमान होने लगा, जय-जय-निनाद से समस्त पृथ्वी आक्रांत होगई, और आकाश भी जयजयकार की प्रतिध्वनि से गूँजने लगा। तुरंगों की हिनहिनाहट और पदातिकों के पदों की चाप से उत्पन्न घोर शब्द को कौन सह सकता है।

शत्रुओं के रुधिर से भीगी हुई तलवारें समरांगण में इस तरह अपनी चंचल छटा छिटकाने लगीं जैसे वर्षा के मेघाडम्बर में दमकती विद्युच्छटा अपना तीव्र प्रकाश दिखाकर छिप जाती है। भीषण रणभूमि में उन्नद्ध योद्धाओं की गर्जना मेघों के तुमुल गर्जन और कठोर कड़क की भाँति सुनाई देती थी। असंख्य तुरंगों की भारी टापों से धरित्री चूर चूर होगई और चारों दिशाएँ और दिग्कोण धूलि से आच्छादित होगये। भयंकर बाणों की धारासार वृष्टि से व्योम आपूरित होगया और शत्रु के शोणित से वसुंधरा इस प्रकार भीग भीग गई

भूलता और उसे जगाये रखता है···वही तो मेरे कविठाकुर करते हैं····

फिर वह आँखें पोंछती है···

और फिर आँखें मींचकर प्रणाम करती है, सर्वव्यापक को···

कुछ दिन बीत जाते हैं।

विजयी सेनाएँ मिथिला में लौट रही हैं। विद्यापति ठाकुर घोड़े पर गारहे हैं—

महाराज शिवसिंह ने दूरस्थ दुर्गम गढ़ों को केवल अपनी हुंकार और उमंग से ही तोड़ डाला और अति दुर्गम गुप्त गढ़ों को बात की बात में नष्ट कर दिया। महाराज शिवसिंह ने दिल्लीपति सुल्तान की सीमा को पहुँची हुई मर्यादा को भी रणभूमि का दर्शन कराया।

'जय जय···

'महाराज शिवसिंह की जय···

'शत्रु-विक्रम····दिल्ली सुल्तान-विजेता-महाराज शिवसिंह की जय···

तुरंगों के गमन का एक स्वर····

भाले ढालों से टकराते हैं···

स्त्रियाँ गवाक्षों से लवा, फूल फेंकती हैं, रोली, अबीर हवा में फैल रही है···पथ के दोनों ओर किसान, नागरिक, दल के दल लोग खड़े हैं। महाराज ऊँचे हाथी पर हैं, कवि घोड़े पर से गाता है, आज उसका स्वर गंभीर मेघ-गर्जन सा है—

डंके का कठोर शब्द, चंचल वायु में लहराती पताकाओं से सुसज्जित, रणभेरी, कोहल तथा शंखनिनाद से त्रिलोक को कंपित करने वाली वाहिनी के साथ जय-ध्वनियों से समस्त व्यापक वसुन्धरा और त्रिभुवन एक साथ गुंजायमान हो उठे, जिस प्रकार केतकी पुष्प का सौरभ चारों ओर के मलय को सुरभित बना देता है।

पार्वत्यनद जिस प्रकार प्रचण्ड वेग से बहता है और वायु-मण्डल में जिस वेग से गरुड़ उड़ता है, उसी प्रकार सूर्य के समान तपस्वी और प्रतापी महाराज शिवसिंह ने अपनी सेना के साथ यात्रा की है। महाराज शिवसिंह की वाहिनी की प्रचण्ड गति से स्वर्ण गिरि सुमेरू कम्पायमान होने लगा, जय-जय-निनाद से समस्त पृथ्वी आक्रांत होगई, और आकाश भी जयजयकार की प्रतिध्वनि से गूँजने लगा। तुरंगों की हिन-हिनाहट और पदातिकों के पदों की चाप से उत्पन्न घोर शब्द को कौन सह सकता है।

शत्रुओं के रुधिर से भीगी हुई तलवारें समरांगण में इस तरह अपनी चंचल छटा छिटकाने लगीं जैसे वर्षा के मेघाडम्बर में दमकती विद्युच्छटा अपना तीव्र प्रकाश दिखाकर छिप जाती है। भीषण रणभूमि में उन्नद्ध योद्धाओं की गर्जना मेघों के तुमुल गर्जन और कठोर कड़क की भाँति सुनाई देती थी। असंख्य तुरंगों की भारी टापों से धरित्री चूर चूर होगई और चारों दिशाएँ और दिग्कोण धूलि से आच्छादित होगये। भयंकर बाणों की धारासार वृष्टि से व्योम आपूरित होगया और शत्रु के शोणित से वसुंधरा इस प्रकार भीग भीग गई

जैसे आषाढ़ की घनघोर वर्षा से उपप्लावन होजाता है। संग्राम-भूमि में रुण्ड और मुण्ड नाचते फिरते थे और शृगाल प्रसन्न होहोकर चिल्ला रहे थे । चारों ओर एक भयानक शब्द सुनाई देता था। भूत और प्रेत रक्त मांस और मेद से तृप्त होकर वीभत्स आनंद से कूदने लगे। वैताल भूत पिशाच जीभर कर शोणित पीकर उन्मत्त से धूधड़ाम करते नाचते कूदते गिरने लगे। महाराज शिवसिंह की सेना ने अरियों को खंड-खंड करके नष्ट कर दिया और समस्त रणभूमि को शत्रुओं के रुंडमुंडों से ढँककर अलंकृत कर दिया। उनका देदीप्यमान कलेवर पूर्णिमा के चंद्रमा को भाँति प्रकाशवान् और केतकी पुष्प की भाँति सुगंधित हो उठा। अभिनव जयदेव सुकवि विद्यापति कहता है कि महाराज शिवसिंह ने अपने सुकृत और सुन्दर प्रवन्ध से राजाराम की भाँति फिर इस संसार में धर्म की प्रतिष्ठापना की है और अपने अतुलनीय दानों से दवीचि की अमर कीर्त्ति को गौरवान्वित किया है। नरों के इन्द्र महाराज देवसिंह के प्रिय पुत्र महाराज शिवसिंह पुरुष-सिंह हैं, वे समस्त गुणों की खान हैं, और शत्रुओं का समूल विध्वंस करने वाले हैं। केहरी की भाँति एकच्छत्र राज्य करने वाले महाराज शिवसिंह स्वयं समस्त कलाओं के निधान हैं।

'जय···जय···

'दिल्ली-सुल्तान-विजेता महाविक्रम महायोद्धा की जय····

'मिथिला-मुकुट चूडामणि महाराज शिवसिंह की जय····

'पुरुष-पराक्रम महातेजस्वी सकलगुण-निधान दिगंत-व्याघ्र महाराज शिवसिंह की जय···

अब नगाड़े बजते हैं···धकधक····धकधक···ललनाएँ शंख फूँकती हैं···

गवाक्ष से महारानी गलहार फेंकती है। पुष्पमाल जाकर महाराज के गले में गिरता है।

तुमुल निनाद होता है····जय···जय···

और तब एक फूल गिरता है, विद्यापति के ऊपर, कवि उठाकर सिर पर चढ़ाता है और सेना निकल जाती है···

जयजयकार गूँजता रहता है, गूँजता रहता है···

जय···जय···पराक्रम और जय···

युद्ध समाप्त होगया है। महारानी प्रसन्न रहती हैं। कई दिन व्यतीत होगये हैं। कवि विसपी गया है।

लौटते ही सेवक कहता है: 'प्रभु !'

'क्या है मधाई ?'

'महाराज के यहाँ से घुड़सवार आया था।'

'क्या संवाद ले आया ?'

'महाराज अस्वस्थ हैं।'

'कब से ?'

'तीन दिन हुए।'

'मुझे आज सूचना दी ?'

'कहते थे पता चला था, कवि ठाकुर यहाँ नहीं हैं। आज पुछवाया था कब आरहे हैं ? मैंने कहलवाया आज ही। बोला वह: महाराज ने स्मरण किया है।'

'तो रथ तैयार खड़ा है न ? कहदे खोले नहीं।'

'प्रभु तनिक विश्राम कर लेते ?'

'महाराज की अस्वस्थता जानकर विश्राम करूँ ?'

सेवक चला जाता है।

प्रसाद के विशाल अलिंद के सामने रथ रुकता है। कवि उतरता है।

विशाल प्रकोष्ठ में महाराज सुवर्ण के पलंग पर लेटे हैं। बड़े बड़े पंखे लिये दो सेवक खड़े हैं।

कवि कहता है : 'अभिवादन करता हूँ महाराज !'

कौन ? कविठाकुर !

'हाँ महाराज ! इस दीन को इतना अकिंचन समझा कि स्मरण तक नहीं किया ?'

पर्दा हटता है।

महारानी आती हैं।

पलकें कुछ भारी हैं।

'कविठाकुर प्रणाम।'

'अखंड सौभाग्यवती रहें महारानी।'

'तुम्हारी जिह्वा पर सदैव सरस्वती जीवित रहे।'

'मुझे बुलवाया तक नहीं।'

'हाँ, मैंने महाराज से कहा था।' महारानी कहती हैं।

द्वार पर सेवक आकर कहता है : 'देव ! छोटे महाराज पधारे हैं।'

'कौन पद्म ? बुलाले।'

पद्मसिंह आते हैं। बैठते हैं। यथोचित वार्त्तालाप होता है।

शिवसिंह कहते हैं : 'कविठाकुर ! मेरे बाद मिथिला के सिंहासन के उत्तराधिकारी पद्मसिंह ठीक रहेंगे न ?'

पद्मसिंह कहते हैं : 'क्या कहते हैं भैय्या ! यह कैसा अपशकुन है !'

लखिमा की आँखों में पानी भर आता है।

वह देखती है।

कवि पत्थर की मूर्त्ति सा लगता है।

कठोर ! स्तब्ध ! अपलक !

क्या हुआ ?

'कविठाकुर !' महाराज कहते हैं।

वह नहीं बोलता, जैसे सुन नही रहा है।

'कविठाकुर ?'

'ओह ! ऐं ? हाँ !'

'विद्यापति ठाकुर !'

'कौन ? महाराज !'

'क्या होगया तुम्हें ?'

'कुछ नही, कुछ नहीं।'

'परन्तु तुम यों कैसे बोलते हो ?'

'क्या कहा था आपने, अभी, क्या कहा था···

'कब ?'

'कुछ देर हुए····

'तुम्ही कहो न ?'

'वही कि मेरे बाद···

'हाँ ठीक नहीं लगा ?'

'तो क्या····तो क्या···

'क्या बात है। कहो न ?'

'महाराज की अस्वस्थता जानकर विश्राम करूँ ?'

सेवक चला जाता है।

प्रसाद के विशाल अलिंद के सामने रथ रुकता है। कवि उतरता है।

विशाल प्रकोष्ठ में महाराज सुवर्ण के पलंग पर लेटे हैं। बड़े बड़े पंखे लिये दो सेवक खड़े हैं।

कवि कहता है : 'अभिवादन करता हूँ महाराज !'

कौन ? कविठाकुर !

'हाँ महाराज ! इस दीन को इतना अकिंचन समझा कि स्मरण तक नहीं किया ?'

पर्दा हटता है।

महारानी आती हैं।

पलकें कुछ भारी हैं।

'कविठाकुर प्रणाम।'

'अखंड सौभाग्यवती रहें महारानी।'

'तुम्हारी जिह्वा पर सदैव सरस्वती जीवित रहे।'

'मुझे बुलवाया तक नहीं।'

'हाँ, मैंने महाराज से कहा था।' महारानी कहती हैं।

द्वार पर सेवक आकर कहता है : 'देव ! छोटे महाराज पधारे हैं।'

'कौन पद्म ? बुलाले।'

पद्मसिंह आते हैं। बैठते हैं। यथोचित वार्त्तालाप होता है।

शिवसिंह कहते हैं : 'कविठाकुर ! मेरे बाद मिथिला के सिंहासन के उत्तराधिकारी पद्मसिंह ठीक रहेंगे न ?'

पद्मसिंह कहते हैं : 'क्या कहते हैं भैय्या ! यह कैसा अपशकुन है !'

लखिमा की आँखों में पानी भर आता है।

वह देखती है।

कवि पत्थर की मूर्त्ति सा लगता है।

कठोर ! स्तब्ध ! अपलक !

क्या हुआ ?

'कविठाकुर !' महाराज कहते हैं।

वह नहीं बोलता, जैसे सुन नहीं रहा है।

'कविठाकुर ?'

'ओह ! ऐं ? हाँ !'

'विद्यापति ठाकुर !'

'कौन ? महाराज !'

'क्या होगया तुम्हें ?'

'कुछ नहीं, कुछ नहीं।'

'परन्तु तुम यों कैसे बोलते हो ?'

'क्या कहा था आपने, अभी, क्या कहा था···

'कब ?'

'कुछ देर हुए····

'तुम्हीं कहो न ?'

'वही कि मेरे बाद···

'हाँ ठीक नहीं लगा ?'

'तो क्या····तो क्या···

'क्या बात है। कहो न ?'

'नहीं···नहीं····एक दिन···एक दिन···

'कविठाकुर···

'हाँ महाराज ! एक दिन सबही को जाना पड़ता है, आज नहीं कल···कल नहीं परसों...और मैं तो भूल ही गया था··· जाना ही होगा···महाराज को भी ····मुझे भी, एक दिन सबही चले जायेंगे ? फिर मैं क्यों भूल गया इस सत्य को ! महाराज मुझे तो ऐसी भूल पड़ गई थी कि मैं इस आनन्द को शाश्वत समझने लगा था। वाह रे कविठाकुर ! तुझसा भी कोई मूर्ख होगा इस लोक में। लखिमा देई !

'कविठाकुर !' वह रो देना चाहती है।

'सब जायेंगे न ? फिर मैं क्यों प्रीति करूँ ? प्रीति से तो अंत में हृदय विदीर्ण ही होगा न ?'

महाराज कहते हैं : तुम ही ने तो गाया था कविठाकुर उस दिन—

अनुखन माधव माधव सुमरत
सुन्दरि भेलि मधाई
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
अपने गुन लुबुधाई ।
माधव अपरुब तोहर सिनेह !
अपने विरह अपन तनु जरजर
जिवइत भेलिसंदेह ।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छल छल लोचन पानि,
अनुखन राधा राधा रटइत

आधा आधा बानि
राधा सयँ जब पुनतहि माधव
माधव सयँ जब राधा
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत
बाढ़त विरहक बाधा।
दुहु दिसि दारु-दहन जैसे दगधई
आकुल कीट परान
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि
कवि विद्यापति भान। ❀

❀ प्रत्येक क्षण तुम्हें याद करते करते हे माधव ! राधा अपने को ही माधव समझने लगी है। वह अपने भाव स्वभाव भूलकर अपने ही गुणों पर अपने को माधव समझ कर मुग्ध होगई है। हे माधव ! तुम्हारे प्रति उसका अपूर्व स्नेह है। अपने को माधव जान वह अपने ही विरह में क्षीण होती जारही है। उसका शरीर इतना जर्जर होगया है कि उसके जीवित रहने में संदेह लगता है। भोर ही से उसकी यह दशा देख सखियों के लोचन छलछला आये। किन्तु राधा तो अब 'राधा राधा' ही रटती है। कभी चेत होने पर वह राधा बन जाती हैं, कभी माधव हो जाती है। उसकी विरह पीड़ा में तो कभी बाधा नहीं पड़ती। कितनी दारुण है उसकी वेदना !

यह दारुण दहन दोनों ही अवस्थाओं में उसका दहन किये दे रहा है। वह तो मानों दोनों ओर से जलती लकड़ी

धीरे धीरे सुनाते सुनाते महाराज की आँखें कुछ मुँद जाती है मानों वे ध्यान में लीन होगये हों।

राजवैद्य आते हैं। वे धीरे से नाड़ी पकड़ते हैं, फिर ऐसे चौंक उठते हैं जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो।

'महाराज !' उनका विकृत और आतंकित स्वर गूँज उठता है। पद्मसिंह चिल्ला उठते हैं : 'वैद्यराज !'

वैद्यराज हताश से खड़े हो जाते हैं मानों सबकुछ लुट गया हो। लखिमा फूट फूट कर रोती हैं। पद्मसिंह अपने माथे पर बार बार हाथ का आघात करते हैं। चारों ओर स्त्रियाँ हाय हाय की करुणध्वनियां करती रो रही हैं। ऐसा दारुण क्रंदन होरहा है कि सारा प्रासाद मानों अब पिघल कर पानी होकर बह जायेगा।

किंतु कवि स्तब्ध बैठा है।

'कविठाकुर !!' रोते हुए पद्मसिंह कहते हैं।

'शांत रहें छोटे महाराज ! देखिये न ? महादेव लौट गये। शिव अवतार लेकर आये थे अब कैलास लौट गये हैं। कितने शांत हैं। अचानक कैसा मादक यौवन है, किंतु परम-योगी की भाँति कितने निर्मम ! कोई बंधन नहीं। वे तो

के बीच बैठे हुए एक कीट के समान है ! कवि विद्यापति कहता है कि हे माधव ! प्राणवल्लभ ! चंद्रमुखी राधा को अपने दर्शन देकर उसकी विरहावस्था का अंत करो।

प्रस्तुत पद विद्यापति की अटूट गहराइयों का परिचय देने वाला है।

पशुपति हैं, अपनी ही लीला से जो पाश धारण किये थे, उन्हें तोड़ देने में क्या देवाधिदेव को कुछ भय लगा ? नहीं। देखिये न ? वे युगाँत की समाधि में प्रलयों को अपने भीतर लीन कर गये हैं। विदग्ध काम अनङ्ग बन कर उनके चरणों पर मानो सोगया है । कैसी सम्मोहिनी मुस्कान है न इन होठों पर !

और कवि देख रहा हैं।

अपलक''' विभोर'''अतीन्द्रिय सी ज्योति मानों उसके शरीर-दीपक में से स्फुरित होने लगी हैं'''

पद्मसिंह कहते हैं: 'विचलित राजलक्ष्मी ! तू कब स्थिर होगी ? दारुणी ! वज्र-हृदये ! गये महाराज देवसिंह गरुड़ नारायण । आह ! ओइनी छोड़कर उन्होंने देवकुली में राजधानी बसाई और आज देवकुली का सूर्य भी अस्त हो गया। यही है पिता के असंख्य तुलादानों का पुण्यफल कि आज महाराज शिवसिंह निस्संतान ही अपने यौवन में चले गये। यही हैं वह प्रचण्ड पराक्रम जिसने अभी कुछ दिन हुए दुर्मद दिल्ली सुल्तान की विशाल वाहिनी के पाँव उखाड़ दिये थे ?'

विद्यापति उठ खड़ा हुआ है । वह कहता है: 'ठहरो युवक ! महाराज की विरुदावली तो मैं गाऊँगा न ?'

लखिमा चिल्लाती हैं: 'कविठाकुर ! महाराज नहीं रहे। आँखें खोल कर देखिये।'

वह फिर फूट फूट कर रोने लगती है।

'कौन नहीं रहे ?'

'महाराज···' मालती कहती हैं। वह सुबक रही है।

'महाराज नहीं रहे ! तो फिर मैं अब अपने प्रेमगीत सुनाऊँगा किसे ?' कवि कुछ विस्मय से पूछता है।

'महाराज मर गये हैं कवि' ! महाराज मर गये हैं।' विक्षोभ से पद्मसिंह कवि के कंधे झकझोर कर कहते हैं: 'जागो···मैं कहता हूँ जागो···

'मर गये ? महाराज···

कवि कहता हैं और फिर शब्द उठता है—

हाहाहाहा···महाराज चलेगये ! मेरे मित्र ! मेरे सखा चले गये।

अब कवि कभी इधर कभी उधर देखता है। वह कहता है : 'छि: मरे नहीं मूर्खों सो रहे हैं।'

वह पुकारकर कहता है : 'महाराज ! मेरा नया गीत नहीं सुनेंगे ?'

पद्मसिंह अत्यन्त कातर हो आँखों को हथेलियों से छिपा लेते हैं।

लखिमा कहती हैं: 'कवि ! तुम तो सरस्वती के वरद पुत्र हो, पूछो न महाराज से···

कोई नहीं बोलता।

कवि फटीफटी आँखों से देखता है····

राजा के होठों पर मुस्कान छारही है···

हठात् कवि का कठोर हास्य गूँज उठता है और फिर गूँजता है : चले गये निर्मम निर्दयी छोड़ गये···

चले गये निर्म···म···

निर्द···यी····छोड़···ग···ये····

कवि अब भाग गया है।

भवन के बाहर कई लोग बैठे हैं। कवि प्रकोष्ठ में बंद है। कहीं वह भाग न जाये।

एक व्यक्ति दीप लेकर जाता है। कवि कहता है: 'मित्र ! तुम्हारी चिता जल रही है ?'

दीप हटा दिया जाता है।

सारी रात यों ही बीतती है।

भोर होती है, आकाश में सुवर्ण जलने लगता है। कवि कहता है: 'महाराज ! आपकी चिता की लपटें आकाश तक छागई हैं !'

और मध्यान्ह में लोग आकर देखते हैं, कवि थक कर सोगया है। वे कुछ नहीं कहते।

कई दिन बीत गये हैं। लखिमादेई कहती हैं–'मालती !'

'हाँ देवी !'

'कितना एकांत है।'

मालती समझती है। अब लखिमादेई महरानी नहीं हैं। पद्मसिंह राजा हैं। वे दिल्ली सुल्तान के आधीन होगये हैं। इस ओर लखिमादेई के प्रासाद में नीरवता रहती है।

लखिमा पूछती हैं: 'मालती ?'

'हाँ देवी !'

'अभी कबतक जीवित रहना पड़ेगा।'

'जितने दिन भगवान चाहेंगे।'

ओर वह क्या उत्तर दे। वैसे जीवन में आनन्द है ही क्या जो वह मृत्यु के विचार का प्रतिकार करे।

'कैसा लगता है सब !' महारानी कहती हैं : 'सच, विश्वास नहीं होता कि यह वही संसार है। जिसे उस दिन देखा था। वह मानो एक स्वप्न-लोक की बात थी।'

मालती देखती है।

लखिमा की आँखों में एक नवीन चमक भरती जा रही है।

'देवी ?'

'क्या है मालती !'

'गाऊँ देवी !'

'कौनसा गीत।'

'प्रेम भरा कोई।'

'नहीं।'

'क्यों देवी !'

'कविठाकुर नहीं गाते न ?'

'नहीं देवी !'

'क्यों नहीं गाते मालती ?'

'उनके मित्र नहीं रहे हैं न ?'

'नहीं मालतो ! अब उन गीतों को सुनने के योग्य ही कोई नहीं रहा है न ? वीर ही प्रेम करते हैं ओर जीवन के ओज में ही उदात्त गौरव भी पलता है। न शिव के अवतार हैं, न अब कवि का शृंगार ही जागता है। पराधीन मिथिला में महाकवि क्या आनंद की हिलोर उठायेंगे ?'

'ठीक कहती हैं देवी।'

'किंतु कविठाकुर अमर होंगे मालती ! वे बहुत बड़े मानव हैं, वे तो देखता हैं !'

'हाँ देवी ! महाराज की मृत्यु ने उन्हें सब कुछ भुला दिया है।'

लखिमा सुनती हैं। कहती हैं—'सब कुछ। याद भी करें तो क्या ? मिथिला में अब है ही क्या ? किन्तु वे क्या सभा में नहीं आते !'

'महाराज बुलाते हैं कभी तो आजाते हैं।'

'कविता नहीं सुनाते।'

'कभी बहुत कहा तो कोई धार्मिक रचना सुनाते हैं। कभी प्रार्थना, कभी नचारी। और कहते हैं घर पर धर्मग्रंथों के बारे में कुछ लिखा करते हैं। अधिक बातें भी नहीं करते।'

'ठीक ही तो है।'

'क्यों देवी !'

'जो पराक्रमी नहीं हैं, वे प्रेम भी क्या करेंगे ? पराजित जीवन को धर्म की रूढ़ियाँ ही तो संबल के रूप में चाहिये। वही तो कवि ठाकुर भी कर रहे हैं। वह रसवती धारा बहाना क्या अब उनके बस में है···

'क्यों देवी ! क्या वे नहीं गा सकते ?'

'नहीं मालती, अब वे मुरझा गये हैं···किंतु मुझे विश्वास है कि यदि वे यहाँ आयेंगे तो अवश्य गायेंगे और अबकी वार उन गीतों में बड़ी करुण वेदना छलक निकलेगी···

'क्या वे कभी आयेंगे देवी ?'

'आयेंगे मालती ! भगवान ने चाहा तो अवश्य आयेंगे ।'

और फिर उन आँखों में आलोक सा पुलक उठता है ।

× × × ×

अंधकार में अब भी आँखे तैर रही हैं ! कहाँ है कवि ! कहाँ है विद्यापति ठाकुर ! क्या अब वह नहीं आयेगा । महारानी लखिमा केश खोले विधवा के रूप में खड़ी सामने कृष्ण की मूर्ति को देख रही हैं…

अब माँझियों की पतवारों की छपाक् दपाक सुनाई दे रही है । वृद्धा सोरही है । युवती भी । बालक सुखनिंदिया सोरहा है । वह अजातशत्रु है, वह महल में भी ऐसे ही सोता, कुटिया में भी ऐसे ही ।

अचानक कहीं एक खड़खड़ाहट सुनाई देती है ।

सब चौंक उठते हैं ।

मैं देखता हूँ । अंधकार में कुछ भी नहीं दिखाई देता । आकाश के नक्षत्र अपनी ज्योति के भाले फेंक तो रहे हैं, किंतु वे बहुत दूर हैं, वे भाले पास नहीं आते, उनकी नोंकें बहुत दूर दिखाई देती हैं, जिनको अंधकार ने ग्रस लिया है । विशाल जलधारा का एक स्तब्ध सा गहरा सा निनाद होरहा है । वायु प्रशांत है । सामने की ओर के पेड़ों के झुंडों ने अंधकार को बहुत गहरा बना रखा है । वहाँ घोड़ों के पाँवों का पानी में खलभलाना सुनाई पड़ता है । कभी कभी कवच से खड्ग टकराते हैं ।

'तुर्क !' एक माँझी अत्यन्त भय से कहता है ।

सबकी नींद टूट जाती है ।

'बोलना नहीं ।'

'सूरी के राज्य में तो कुछ शांति थी ।'

'अब तो मुगल हैं। चारों ओर जिसके जो मनमें आता है, वही करता है। दिल्ली का सुल्तान अभी बहुत सशक्त नहीं ।'

'दल के दल लुटेरे घूम रहे हैं।'

'हाय अब क्या होगा ?'

'नाव मँझधार में ले चलो ।'

'पर हम उल्टे खे रहे हैं।'

'तो फिर धार में छोड़ दो :'

'कहाँ पहुंचेंगे फिर ?'

'कहीं भी। मरने से तो यही अच्छा है।'

कोई कहता है: 'वासुदेव के धाम जाने में भय क्यों ;'

'तो क्या मारे जायें ?'

'नारायण हो रक्षक है।'

'ठीक है' 'एक स्वर और' 'लौटकर भी कहाँ जायेंगे ?'

'तो चलो तीर की ओर !'

'स्वयं मौत के मुँह में ।'

'जल में ही क्या करोगे ?'

'वे तीर मारेंगे !'

'नाव डूब जायेगी ।'

'हाय···मेरा बच्चा···

'तो मर गया रे···

'दादी ! ता बात है···

एक डगमग, एक छपाक !
कुछ हो, कुछ न हो ।
युवती तो गंगा मैया की गोद में चली गई।
धन्य है वहन !
तेरी जय हो !
गंगा मैया !
पतित तारिणी !
जय हो !
जय हो !
अव कलंक का डर नहीं।
तो चलो किनारे पर !
ओ नहीं ऐसे कोई खाजायेगा ।
जानसे ही तो मारेगा न ?
मार लेने दो !
भगवान वचायेगा...
हम अपने पूर्व जन्म के पाप झेल लेंगे....
उनसे कोई वचा हैं क्या...
राजा राम नहीं वचे...
'हाय...मेरा वच्चा....
'डर मत दादी ! कृष्ण को तो वन्दीगृह में भी कंस नहीं मार सका था...
'लेकिन मेरा वच्चा....
'भगवान से वढ़कर इसका रक्षक कौन है...
मझधार में खे चलो...

नहीं जा सकते…

क्यों ?

वह देखो !

छपाक्, छपाक्….

छपछाप, छपछाप…

छपक छपक छपछाप…छापछप…

दोनों तरफ से घेरा डाला गया है…

हाय हाय…लुटेरे हैं…

एक स्वर आता है : किनारे चलो, किनारे….

बड़ा कठोर स्वर है।

एक बड़ा विकराल अट्टहास तीर पर सुनाई देता है।

हाय रे दैया…

दैयारे…

चुप रहो….चुप रहो…

मरना है तो वीरता से मरेंगे…

डरने से तो ये म्लेच्छ बहुत सिर पर चढ़ते हैं…

हाय तुम तो मरने से भी नहीं डरते…

दादी….चुप क्यों है….धीरज क्यों नहीं बँधाती

'बेटा, रोकर समय न गँवाओ, भगवान को याद करो…'

'तेरा बच्चा दादी…'

'भगवान ने उसे जन्म दिया है, वही रखेगा…'

'तुझे डर नहीं लगता ?'

'डर किसका…सब तो गोपाल का है….मैं तो उसकी शरण में जारही थी। उसे इतनी उतावली होगई कि राह में

ही लेने आगया···

मैं सुनता हूँ, मेरे रोंगटे खड़े होगये हैं···

माँझी !

कोई उत्तर नहीं।

माँझी····

मुझसे कहो····

यह जवान क्यों नहीं बोलता···

'डरो मत ! माँझी नहीं भागता ।'

'मांझी चुप क्यों है ?'

'सोच रहा है, तीर पर कैसे छिपे ।'

'यहाँ से तो न भागेगा ?'

'नहीं ! नदी में तो हम तुर्क को भी डूबने को नहीं छोड़ते। गंगा मैंया की आन है। जल में पहले माँझी मरेगा, तब ही यात्री। माँझी अपना धरम नहीं छोड़ सकता ।'

'धरम से धरती टिकी है।'

'कितने दिन का तुर्क है ?'

'यह धर्म सनातन है ।'

'इसके लिये ही भगवान धरती पर उतरे हैं बार बार।'

'हिरनाकुस गया, रावण गया, कंस गया।'

'ये क्या इनसे भी बड़े होगये ?'

'अरे काल का धक्का इन्हें भी लगेगा ।'

'लगेगा और लगकर रहेगा, पर धरम न मिट जायेग हमारा ।'

'वह क्या मिटेगा। नरकासुर न छीन सका उसे।'

'यह क्या मारेगा हमें।'

'ओ बस देह को मार लेगा।'

'मार ले देह को। आत्मा तो अमर रहेगी!'

'देह तो वस्त्र की भाँति है। ओढ़ी, छोड़दी। आत्मा का क्या बिगड़ता है।'

'कुछ नहीं, डरो मत!'

'कौन डरता है। कौन डरता है;

माधव, गोपाल—…

हरे मुरारे…

राधे गोविंद हरि…

राधे गोविंद हरि…

हरि बोल….

हरि बोल…

और अंधेरा अब हल्का लगता है…नाव तीर की ओर बढ़ी जारही है।

अब कोई नहीं डरता।

मन में दीपक जल रहे हैं।

तीर पर कोलाहल हो रहा है।

नाव किनारे लगती है। तुरंत ही कुछ भीमकाय तुर्क नाव से लोगों को घसीटने लगते हैं। अब हाहाकार मचने लगता है, क्योंकि देह वस्त्र ही सही, परंतु वस्त्र को बेकायदे खींचने से दर्द होता है। यह मनुष्य की देह साधारण वस्त्र नहीं, इसका सीधे आत्मा से सम्बन्ध है। आत्मा भी इसमें तभी तक रहता

है जब तक इस वस्त्र के ताने वाने ठीक जुड़े रहते हैं । पता नहीं, ऐसा क्यों होता है !

ओ बुढ़िया तू है···

कोई जवान भी है···

होती तो तुम्हारे लिये क्या वह छूटी रहती···

हा···हा···हा···

फिर एक झकझोर····

'अरे अरे बच्चा है···'

'एक के दो होगये बेटे ! इसे बोदे, चार निकलेंगे····'

'सच', मैंने कहा—'चार नहीं, चार सौ···'

सच् !

पाँव मेरा कट कर झूलने लगा। तलवार का भरपूर हाथ था ।

मैं रोता नहीं। हँसता हूँ।

'हँसता है ये ?'

'काफ़िर !'

'आदमी ग़ज़ब का है ।'

'अलग ठेल दो, फिर देखेंगे····

'सर्दार, माल ज्यादा नहीं···

'तो जाने दो···

'कितने मरे···

'पता नहीं···

'सुबह देखा जायेगा'

'सुबह तक तो गीदड़ बराबर कर लेंगे ।'

'धास हैं घास ।'

'दीन की तलवार है सर्दार !'

'सवाब है...'

हाहाहा....

और फिर एक रुदन ।

अब दो मेरी ओर ।

मैं पड़ा हूँ ।

'पाँव कट गया ।'

'तो मेरा वार था वह ।'

'परसों का तुम्हारा हाथ याद है। सीधे पड़ा था । सिर को बीच में से बाट दिया था खड़ा ।'

'क्या जाने ऐसे कट जाते हैं । इनमें दम नहीं ।'

'खोपड़ी में भूसा होता है ।'

'हाहाहाहा....

'लेकिन बग़ावत इनके लहू में है...

'सारे किसान...

'लगान दो, तो जंगल भाग गये...

'एक एक गाँव में आग लगानी पड़ेगी...

'बड़े सरकश हैं...

'इनके ठाकुर भले जो हारे तो मान तो भी जाते हैं...

'मगर यह छुटके पुटके जमीदार तो....

'कसम से जो कहा है मुल्ला अब्दुल कादिर बुदायूनीने...

'अकबर शाह की ही फतह समझो...

'तब तो जिहाद कायम रहेगी....

'कौन जाने···

'अभी तो बेगमात काफिरों से चिढ़ी रहती हैं···

'काफिर···बुतपरस्त, घिनौने कुत्ते···

'इन से जज़िया लेना हमारा हक़ है···

'फिर ये मानते क्यों नहीं···

'हिंदू बड़ा ज़िद्दी होता है···

'और जिसमें ये बिरहमन !

'दोज़ख की मार हो इस पर !'

'लेकिन ये जो मुसलमान हुए हैं देसी कुत्ते ! उनकी जुर्रत देखो कि हमारा मुकाबला करने चले हैं !'

'अजी अपने को बराबर समझते हैं !'

फिर आपस में कुछ तुर्की में बातचीत हुई, जो मैं समझ नहीं सका ।

मैं पड़ा हूँ । पाँव से खून बहुत बह गया है । कंधे की धोती मैंने बाँध ली है । छूने से पता चलता है कि सब भींग गई है ।

एक तुर्क आरहा है, उसके हाथ में मशाल है । फरफराती ज्योति निकट आती है । अब मैं देखता हूँ । मेरे पास रामते माँझी का सिर पड़ा है । सिर ! केवल सिर, गर्दन से टपक रहा है लहू ! और उसके दाँत हँसते हुए से चमक रहे हैं । उसकी आँखें खुली हुई हैं । वह जैसे मुझे अब भी देख रहा है, एकटक । शायद मौत के बाद भी वह मेरा साहस परख रहा है । तो क्या मैं हार जाऊँगा ? परंतु हारने को अब है ही क्या । मेरा पाँव तो कट गया है । मैं जा भी कहाँ सकता हूँ । मेरा सर चकरा रहा है । मुझे स्वयं आश्चर्य होरहा है कि मैं

अभी तक मूर्च्छित क्यों नहीं होगया हूँ। क्या मैं नहीं मरूँगा।

हाँ मुझे तो अभी काम है। क्या काम है मुझे ? वाह ! मुझे वैष्णव की वृद्ध आँखें बुला रही हैं। मुझे तो लखमा की आँखें आगे ले जारही हैं। मैं तो गोपाल का सेवक हूँ। भक्ति की धारा की बूँद हूँ। अभी तो मुझे विद्यापति ठाकुर की पदावली पहुँचानी है। उसको पहुँचाने के पहले क्या मैं मर जाऊँगा ? महाकवि की काव्य मंदाकिनी मेरे देश का गौरव है।

इसी सिलसिले में मैंने काँख में दबे ग्रंथ को टटोला है।

मशाल के प्रकाश में इस बात को एक तुर्क ने शायद देख लिया।

उसने कहा: इसके पास कुछ है…

क्या है…

देखो…

निकाल काफिर…

मैं कह रहा हूँ, नहीं मेरे पास कुछ नहीं है…

'तो फिर क्या छिपा रहा है…

'वह सोना नहीं, चाँदी नहीं…

'तो क्या है आखिर…

'वह तो एक किताब है…

'देखें कैसी किताब है…

'गीतों की है…

'कैसे गीत हैं इसमें…शायरी है…

'पता नहीं…इसमें भक्ति के गीत हैं…

'भक्ति क्या...

'क्या यार वक्त वरबाद कर रहे हो ! होगी कोई काफिरों की जहालत !'

'नहीं नहीं...'मैं कह रहा हूँ-प्रेम के गीत हैं...

'मुहब्बत के...

'तो ला मैं याद करलूँ कुछ, काफ़िरों की छोकरियों को फँसाने के काम आयेंगे...

हाहाहाहा...

खूब कहा यार...

क्यों ठीक है न ?

और काफिरों की लौंडियों का काम ही क्या है ?

हाय कोई कोई तो...

वाह...

वाह वाह...

हाहाहाहा...

हाहाहाहा...

लेकिन कमबख्त यों ही मरती हैं...'

और अपने आप...

निकाल बे ! देखें कैसी किताब है...

नहीं, नहीं, दूँगा...

अबे लँगड़े...

नहीं नहीं छूना नहीं...

अच्छा ! तू इतना पाक है...

छीन ले इससे...

दे एक लात····

हाय गोविंद···

माधव !!

हरे मुरारे···

जनार्दन····

वासुदेव···

किसे आवाज़ देरहा है···

इसके देओता हैं सब···

कोई है मौके पर बचाने वाला···

कोई नहीं···

अच्छा यह हैं किताब····

यार यह पत्तों की किताब···

फेंक इसे···

नहीं···

'लाहौल विलाक़ूवत ! क्या करना है इसका !'

'कसम से यार बख्तियार खिलजी गाज़ी था। उसने, कहते हैं, काफिरों की सबसे ज्यादा किताबें जलाई थीं,'

'इसे मुझे दे दो···इसे मुझे दे दो···' मैं कह रहा हूँ····

क्या करेगा लँगड़े अब तू यहीं मर जायेगा···

मैं क्या कह सकता हूँ। किंतु मुझे लग रहा है उस किताब में मेरे प्राण हैं।

तुर्क किताब की गाँठ तोड़ देता है।

फिर चुरमुर करके पत्ते तोड़कर पाँवों के नीचे कुचल देता है···

'भक्ति क्या···

'क्या यार वक्त वरवाद कर रहे हो ! होगी कोई काफिरों की जहालत !'

'नहीं नहीं···'मैं कह रहा हूँ-प्रेम के गीत हैं···

'मुहव्वत के···

'तो ला मैं याद करलूँ कुछ, काफ़िरों की छोकरियों को फँसाने के काम आयेंगे···

हाहाहाहा···

खूव कहा यार···

क्यों ठीक है न ?

और काफिरों की लौंडियों का काम ही क्या है ?

हाय कोई कोई तो···

वाह···

वाह वाह···

हाहाहाहा···

हाहाहाहा···

लेकिन कमवख्त यों ही मरती हैं···'

और अपने आप···

निकाल वे ! देखें कैसी किताव है···

नहीं, नहीं, दूँगा···

अवे लँगड़े···

नहीं नहीं छूना नहीं···

अच्छा ! तू इतना पाक है···

छीन ले इससे···

दे एक लात····

हाय गोविंद···

माधव !!

हरे मुरारे···

जनार्दन····

वासुदेव···

किसे आवाज़ दे रहा है···

इसके देओता हैं सब···

कोई है मौके पर बचाने वाला···

कोई नहीं···

अच्छा यह हैं किताब····

यार यह पत्तों की किताब···

फेंक इसे···

नहीं···

'लाहौल बिलाक़ुवत ! क्या करना है इसका !'

'कसम से यार बख्तियार खिलजी गाज़ी था। उसने, कहते हैं, काफिरों की सबसे ज्यादा किताबें जलाई थीं,'

'इसे मुझे दे दो···इसे मुझे दे दो···' मैं कह रहा हूँ····

क्या करेगा लँगड़े अब तू यहीं मर जायेगा···

मैं क्या कह सकता हूँ। किंतु मुझे लग रहा है उस किताब में मेरे प्राण हैं।

तुर्क किताब की गांठ तोड़ देता है।

फिर चुरमुर करके पत्ते तोड़कर पांवों के नीचे कुचल देता है···

मैं नहीं देख पाता····

मैं मूर्च्छित होजाता हूँ···

कितना विस्फारित सा गहन अंधकार में ग्रस्त एक विस्तृत आकाश है और निविड़ की साँस साँय साँय सुनाई दे रही है। दिगंत की व्यापकता में एक ही निस्तब्भता छा रही थी। कोई पीड़ा नहीं, केवल अस्तित्व । अस्तित्व में न संवेदना, न प्रतिकार। केवल सत्ता। चारों ओर निरावलंब अंधकार! तारे नहीं, आविर्भूत सी तरलता का एक आच्छादन । और कुछ नहीं। न घोड़ों की रूँद न किसी घायल का चीत्कार, न गीदड़ों की हुमक।

मैं फिर सो रहा हूँ।

कब तक सोता रहा, पता नहीं।

जब देखा तो पौ फट रही है। तीर पर एक जोगी आरहा है।

पानी····

पानी····पा····नी···

जोगी ठिठकता है।

'कौन है वहाँ?'

'पा····नी···

जोगी पास आता है।

इतने घायल! खून खराबा!

पा···

जोगी खप्पर में पानी लाता है····बूंद बूंद कर पीता हूँ मैं अधखुले नेत्रों से देखता हुआ।

पीकर फिर लेटा रह जाता हूँ....

पाँव कट गया है...

आह...

बड़ा दर्द है ?

आह...

जोगी चला जाता है। कुछ देर में बहुत सी जड़ी बूटियाँ लेकर लौटता है। फिर वह मेरे पाँव को खोलता है और उन जड़ियों को हथेलियों पर मसल मसल कर निचोड़ने लगता है। जलन के मारे मैं फिर चीखकर मूर्च्छित होजाता हूँ...

जब आँख खुलती हैं देखता हूँ जोगी मुस्करा रहा है।

'अब कैसी है तबियत...

मैं बोलना चाहताहूँ, लेकिन हलक सूख गया है।

वह फिर पानी गले में डालता है, लगता है अमृत मेरे भीतर उतर रहा है। मैं पीता जाता हूँ।

बस बस...अब फिर और थोड़ी देर बाद।

मैं पड़ा रहता हूँ...

जोगी फिर चला जाता है।

जंगल में से कुछ नई बूटियाँ तोड़ लाता है और धीरे धीरे उनका रस मेरे होठों में निचोड़ता है। हरियांध आरही है... कच्चांध...मुझे अच्छा नहीं लगता...किंतु जोगी के हाथ बड़े कठोर हैं। उसके सिर पर जटाएं बँधी हैं। माथे पर भस्म लगी है। कटि पर मृग चर्म बँधा है।

'अच्छा है ?'

'हूँ'

'किसने किया यह ?'

'तुर्कों ने ।'

'तुर्कों ने !'

'हाँ !'

'अकबर शाह तो ऐलान करता है कि हिंदुओं पर अत्याचार मत करो ।'

जोगी के होंठ फड़कते हैं ।

वह फिर कहता है—चल सकेगा बच्चा ?

कहाँ ?

मेरे साथ !

मैं असमर्थ हूँ ।

'ठाकुर तक । ठाकुर ने अकबर शाह की दासता स्वीकार की है ।'

मैं नहीं उठ सकता ।

मेरी आत्मा तो मर चुकी है । अब कहीं जाकर भी क्या करूँगा ।

तभी घोड़ों की टापों के बजने का स्वर आता है । मैं चौंकता हूँ ।

एक नंगा साधू घोड़े की पीठ पर सवार आ रहा है । वह निकट आकर घोड़ा रोक कर देखता है और कहता है: 'कौन हो तुम लोग ।'

उसके हाथ में त्रिशूल है, बगल में खड्ग ।

'मैं जोगी हूँ । यह कोई घायल यात्री है ।'

'इसे किसने मारा । डाकुओं ने ?'

'नहीं तुर्कों ने !'

'तुर्कों ने !'

साधू शंख फूंकता है। फिर ज़ोर की आवाज़ आने लगती है, जैसे कई घोड़े दौड़ रहे हों। मेरे देखते ही, न हो तो कम से कम पाँच हज़ार नागा बाबाओं की घोड़ों पर चढ़ी सेना आ पहुँची है। उनके हाथों में त्रिशूल हैं। और शरीरों पर भस्म लगी है। वे नंगे बदन हैं, नितांत नंगे। दाढ़ियाँ। सिर पर जटाएं। ऊँचे ऊँचे पुष्ट तुरंग। और साधू भी दृढ़ांग। चारों ओर धूलि छा गई है।

एक साधू बढ़ कर कहता है : 'क्या है भैरवानन्द !'

'तुर्कों ने यहां हिंदुओं को मारा है।'

'अकबर शाह की घोषणा झूठी है।'

'सब एक हैं, जैसे तुर्क, वैसे मुगल।'

'लूट में सब बराबर !'

एक और कहता है : फिर लौटना उचित नहीं।

'बिल्कुल नहीं।' भीड़ चिल्लाती है।

'खिलजी के समय में जोगियों ने टक्कर ली थी। और उसके बाद हमने ली है।'

तब मुझे पता चला। वे नागा थे, जो कुम्भ का पर्व पड़ने पर तीर्थ स्नान करने वाली प्रजा की रक्षा करने को जाया करते थे। वे अपने प्राणों की बाज़ी लगा देते थे। और इसीलिए उनको प्रजा भोजन देती थी। वे प्रयाग जी

रहे थे। दल के दल साधु आते थे और न जाने कब से सशस्त्र युद्ध के लिये तत्पर रहते थे और प्रजा को बचाया करते थे, क्योंकि ऐसे दिनों में तुर्कों की डाकेज़नी बढ़ जाया करती थी। बाबा लोग लड़ते थे, मरते थे...और मैं समझ नहीं पाया हूँ कि प्रजा किस प्रकार निरंतर मरती कटती भी अपनी परंपरा को निभाहती चली आ रही है...मानों केवल इसीलिए कि आततायी इससे जलता है, और इसीलिए मानों अपना विद्रोह प्रगट करने को वह निरंतर टक्कर लेने आती है....

'यात्री ! तुम कौन हो ?'

'ब्राह्मण हूँ ।'

जोगी कहता है—'गोरखनाथ तुम्हारी रक्षा करें। प्रजा की रक्षा करने जाओ। ब्राह्मण को मैं सँभाल लूँगा।'

हमारे देखते देखते, वह सारी घुड़सवार सेना लौट जाती है और फिर उनके पीछे उठती धूलि भी शान्त हो जाती है।

मैं जोगियों से मिल चुका हूँ। वे वेद को नहीं मानते। वे ब्राह्मण को सर्वोच्च नहीं मानते। किन्तु वे इस विध्वंस को अच्छा नहीं गिनते। तुर्कों को अभी तक जोगियों और हिंदुओं का भेद पता नहीं है।

मैंने कुहनियों के बल उठने की चेष्टा की।

जोगी ने सहारा देकर मुझे बिठाया और एक पेड़ के सहारे टिका दिया।

चल सकोगे ?

एक हाथ में डंडा दे दो, एक से मुझे सहारा दो। थोड़ा चलने का यत्न करूँगा।

जोगी ने मुझे कंधे पर उठा लिया है और सामने के गाँव ले गया है। लेकिन गाँव खाली पड़ा है। "सारे किसान भाग गये हैं क्योंकि लगानों की मार ने उन्हें खोखला कर दिया है। एक बार सूरी के सिपाही लगान वसूल करके ले जा चुके हैं, फिर मुगलों के सिपाही ले जा चुके हैं, अब सूरी के सिपाही दण्ड देने आये हैं कि तुमने सूरी। प्रजा होकर मुगलों को कर क्यों दिया···इसी का दण्ड है।", गाँव के एक खण्डहर में से एक वृद्ध निकल कर कह रहा है। वह छिप कर बचा रहा है।

मैं वहीं टिक जाता हूँ। वृद्ध मुझे लाकर एक रोटी देता है। मैं कुछ नहीं पूछता···चुपचाप खाने लगता हूँ···

जोगी शून्य दृष्टि से देख रहा है।

वृद्ध कहता है: 'योगिराज ! क्या इसी पृथ्वी पर एक दिन महायोगी मत्स्येद्रनाथ और गोरखनाथ जैसे व्यक्ति थे···

जोगी कुछ नहीं कहता।

वृद्ध कहता है: 'अस्सी बरस का बूढ़ा हूँ। मेरे सामने ही कितनी बार विध्वंस नहीं हुआ है। और मैं सहारा लेकर बैठ कर गाता हूँ···

बेरि बेरि अरे सिव यों तोय बोलों
फिरसि करिअ मन माय।
बिनसंक रहह भीख माँगिए पए
गृन गौरव पुर जाय !

जोगी और वृद्ध दोनों बैठ जाते हैं। वे भी चाहते हैं मेरी बारंबार प्रार्थना से शिव मेरी ओर ही नहीं, सबकी ओर कृपादृष्टि फेरें···मेरा क्या है मैं तो निःशंक रह कर भं

माँग सकता हूँ, किन्तु तुम्हारे गुण गौरव का तो लोप हो जायेगा···

और मैं गाता रहता हूँ···वे सुनते रहते हैं···फिर न जाने कहाँ से चीटियों की तरह रेंगते हुए अनेक स्त्री-पुरुष जंगल में से निकलते चले आते हैं और फिर वे घोड़ों की टापों से रुँदी हुई धरती को देखते हुए समीप आते चले जाते हैं और फिर, फिर सब गाने लगते हैं···

वेरि वेरि अरे सिव···

वेरि वेरि यानी वारम्वार यानी अविनश्वर···

···जो कभी न मरेंगे···न समाप्त ही होंगे···अक्षय और अमर···



उपसंहार

यद्यपि मैं ठीक हो गया हूँ किन्तु मेरे पास अब विद्यापति की अमूल्य पदावली नहीं है। केवल वे ही पद मेरे पास हैं जो मुझे याद हो गये थे। मैं समझता हूँ कि मैंने असफलता पाकर भी असफलता नहीं पाई है। कौन जाने वृद्ध वैष्णव मर चुका होगा। उसकी आंखें भी चिता की लपटों में जल चुकी होंगी गृह-स्वामी भी विसपी में मर चुके होंगे। उनकी भी आँखें चिता में जल चुकी होंगी। किन्तु ये किसकी आंखें हैं जो अभी तक मेरी ओर देख रहीं हैं।

लखिमा की आँखें····

किन्तु अब मैं कैसे जा सकता हूँ...

अब मैं जर्जर हो गया हूँ, अब मेरा एक पाँव कट चुका है, मुझमें शक्ति नहीं है। मैं जानता हूँ कि प्रेम का संदेश किसी एक कवि की ही एक-मात्र संपत्ति नहीं है, युग की धारा में अनेक बूंदें होती हैं, किन्तु फिर भी विद्यापति ठाकुर की रचनाएँ काश मैं वृन्दावन पहुँचा पाता! कौन जाने वे कब पहुँचेगी! इतिहास बड़ा निर्मम होता है, कौन जाने वह खो ही जायें! और फिर न जाने अभी भारत के भाग्य में कितने तूफ़ान और शेष हैं!

मेरे माधव! मेरा भारत कभी लुप्त तो नहीं हो जायेगा! इस भारत-भूमि की संतान कभी इतनी जघन्य तो नहीं हो

जायेगी कि अपनी आत्मा में से विश्वास ही खो बैठे ! नहीं, मुझे ऐसा नहीं लगता। आधार वे ही खो देते हैं जो केवल एकमात्र अन्धविश्वास में पला करते हैं । जिनके मन में एक व्यापक सत्ता को ग्रहण करने की शक्ति, हर युगबंधन में भी मौजूद रहती है, वे कभी एकदम नष्ट नहीं हुआ करते, वे तो अपना विकास किया करते हैं। एक आँधी आती है, चली जाती है, आँधियाँ पर्वत लुढ़का सकती हैं, पर्वतों को नहीं हिला सकतीं, चाहे उनमें कितनी भी प्रचण्ड शक्ति क्यों न हो । उन्नत गिरियों के भाल आकाश की वंदना करते हैं, पृथ्वी का गौरव प्रतिध्वनित करते हुए…

मैं कबसे कहना चाह रहा हूँ, किन्तु कह नहीं पाया, न जाने क्यों ऐसा लगता है कि जो कुछ मैं अपने शब्दों में बाँध देना चाहता हूँ वह वास्तव में भावनाओं की बात है…